वेणीसंहार के द्वितीय अंक में प्रतिमुख सन्धि है। प्रथम अंक में भीम के क्रोध से युधिष्ठिर का बढ़ा हुआ उत्साह बीज है, क्योंकि द्रौपदी के केश संयमन रूपी कार्य का हेतु है। युधिष्ठिर के इस उत्साह रूपी बीज का द्वितीय अंक में जयद्रथ की माता के प्रवेश से बिन्दु रूप में उद्भेद दिखाई देने लगता है। बीज के उद्भेद के कभी दीखने और कभी न दीखने के कारण द्वितीय अंक में प्रतिमुख सन्धि है।

गर्भसन्धि - तृतीय सन्धि गर्भसन्धि है, जो कि प्राप्त्याशा तथा पताका के योग से बनती है। गर्भसन्धि वहाँ होती है, जहां कि नष्ट हुए बीज का बार-बार अन्वेषण किया जाता है।[8] भरत की परिभाषा में तीन विशिष्ट अर्थगर्भित पदों का प्रयोग हुआ हो-प्राप्ति, अप्राप्ति तथा पुनः अन्वेषण। यहाँ नायक विषयक प्राप्ति होती है। अप्राप्ति का सम्बन्ध प्रतिनायक से होता है और इसी को लेकर अन्वेषण होता है। सागरनन्दिन् के अनुसार नाटक के मध्यवर्ती स्थान में रहने के कारण यह गर्भसन्धि कहलाती है[9] जबकि विश्वनाथ ने इसे फल के भीतर रहने के कारण गर्भसन्धि कहा है।[10] भरतमुनि ने इसके 13 भेद बताएँ है[11] - अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, अधिबल, तोटक, प्रार्थना, उद्वेग, विद्रव, आक्षिप्त।

वेणीसंहार में गर्भसन्धि अन्य सन्धियों की अपेक्षा अधिक समय तक चलती है। इस सन्धि का आरम्भ तृतीय अंक में तथा पंचम अंक के मध्य में होता है। इन अंकों के कथानकों में क्रोध बीज का खूब विकास हुआ है कभी वह दृष्ट होता है और कभी गुप्त ही रहता है। इस सन्धि में मुख्य घटनाएँ निम्नलिखित हैं - द्रोण की मृत्यु, कर्ण के साथ वाक्युद्ध, सुन्दरक द्वारा युद्ध वर्णन, भीमसेन की गर्वोक्तियाँ आदि।

विमर्शसन्धि - चतुर्थसन्धि विमर्शसन्धि है। यह नियताप्ति तथा प्रकरी के संयोग से बनती है। विमर्श का अर्थ होता है - विचार करना। इस सन्धि में फल प्राप्ति की पर्यालोचना की जाती है, इसलिए इसका नाम विमर्श है। नाट्याचार्यों के अनुसार जहां क्रोध, व्यसन अथवा विलोभन लोभ से फल प्राप्ति के विषय में विचार किया जाए तथा गर्भसन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया जाए, तो वहां विमर्शसन्धि होती है।[12] विमर्शसन्धि के भरतमुनि ने 12 भेद गिनाए हैं[13]- अपवाद, संफेट, विद्रव, वद्र, शक्ति, द्युति, प्रसंग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन, आदान।

वेणीसंहार के पंचम अंक के मध्य के बाद और षष्ठ अंक के अधिकांश भाग में विमर्शसन्धि है। छठे अंक में धृतराष्ट्र और गान्धारी द्वारा दुर्योधन को सन्धि करने के लिए समझाने का प्रयत्न प्रकरी है जो भीमसेन की प्रतिज्ञा की पूर्ति में बाधक प्रतीत होता है। परन्तु दुर्योधन द्वारा असहमति प्रकट करने पर यह बाधा दूर होती प्रतीत होती है। इसी अंक में मुनिवेषधारी चार्वाक राक्षस का प्रसंग भी प्रकरी कहा जा सकता है। इस प्रसंग में चार्वाक भीम के मारे जाने की झूठी खबर देकर भीम की प्रतिज्ञा पूर्ति में बाधा डालता प्रतीत होता है, परन्तु भीम की पहचान और गर्वोक्ति से उसकी प्रतिज्ञा की पूर्ति निश्चित हो जाती है। अतः यह स्थल विमर्शसन्धि के अन्तर्गत आते है।

निर्वहणसन्धि - पंचमसन्धि निर्वहणसन्धि है। यह सन्धि नाटक का वह भाग होती हैं, जहां बीजपूर्ण रूप से विकसित होता है तथा फल प्रदान करता है।[14] यह सन्धि कार्य अर्थप्रकृति तथा फल अवस्था के मेल से बनती है। नाट्यशास्त्रियों के अनुसार जहां नाटक की कथावस्तु के बीज से युक्त मुखादि अर्थ जो अब तक इधर-उधर बिखरे हुए पड़े रहते हैं, जब उन्हें एक अर्थ की प्राप्ति के लिए एकत्रित किया जाता है तो वह निर्वहणसन्धि कहलाती है।[15] भरतमुनि ने इसके चौदह उपभेद बताएँ हैं[16] - सन्धि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषण, पूर्वभाव, उपगृहन, काव्यसंहार, प्रशक्ति।

वेणीसंहार के षष्ठ अंक में रुधिर-सने भीम की उपस्थिति से लेकर षष्ठ अंक के अन्त तक निर्वहणसन्धि है। भीम का यह कहना -

रक्षोनाहं न भूतोरिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्गः प्रकामं
निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि।
भोभोराजन्यवीराः समरशिखिशिखादग्धशेषाः कृतं व-
स्त्रासेनानेनलीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यतेकिम्।।[17]

अर्थात् 'मैं राक्षस नहीं हूँ, भूत नहीं हूँ, किन्तु शत्रु के रक्त रूपी जल में अत्यधिक डुबाये हुए अंगों वाला और विशाल प्रतिज्ञा रूपी दुस्तर समुद्र को पार कर चुका हुआ क्रोधी क्षत्रिय हूँ। हे युद्ध रूपी अग्नि की ज्वालाओं से जले हुओं में से बचे हुए वीर क्षत्रियों! तुम लोगों का यह भय व्यर्थ है। क्यों मारे गये हाथियों और घोड़ों की ओट में छिपे बैठे हुए हो?' यहाँ 'मैंने दुस्तर प्रतिज्ञा समुद्र पार कर लिया है' इस

घोषणा का प्रसंग कार्य नामक अर्थप्रकृति है और भीम द्वारा द्रौपदी की वेणी के संयमन में फलागम नामक कार्यावस्था है। कंचुकी द्वारा भीम के पहचाने जाने पर नाटक के सभी प्रसंग जिनमें बीज का विन्यास, प्रकाशन और विकास होता है, फल की ओर तीव्रता से बढ़ जाते हैं और भीम द्रौपदी के केशों को दुर्योधन के रक्त से संयमन करके अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करता है। अतः नाटक के इस भाग में निर्वहणसन्धि है।

इस प्रकार अंत में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वेणीसंहार नाटक में सभी नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों के साथ नाट्य सन्धियों का समावेश किया गया है जिसके कारण संस्कृत जगत में इसकी महती उपयोगिता है।

संदर्भ -

1. *साहित्यदर्पणः, 3/7-11*
2. *नाट्यदर्पणः, रामचन्द्रः, गुणचन्द्रः पृ. 33*
3. *नाट्यशास्त्र, 19/37*
   दशरुपक, 1/22-24
4. *नाट्यशास्त्र, 19/57-58*
5. *वे.सं., 1/21*
6. *ना.शा., 19/40*
7. *ना.शा. 19/59-60*
8. *साहित्यदर्पण, 6/78-79*
9. *ना.ल.र., पृ. 71*
10. *साहित्य दर्पण, पृष्ठ-185*
11. *ना.शा., 19/61-62*
12. *द.रु., 1/43*
13. *ना.शा., 19/63-65*
14. *सुरेन्द्रनाथ शास्त्री - दी ला एण्ड प्रेक्टिस ऑफ संस्कृत ड्रामा, पृ. - 95-96*
15. *ना.शा., 19/43*
16. *ना.शा. 19/65-67*
17. *वे.सं., 6/37*

19

वेणीसंहार में 'तत्करोति तदाचष्टे'

किरण आर्या

कोई भी लेखक, रचनाकार जब अपनी रचना करता है तो वह वर्तमान को भविष्य की दृष्टि में रखकर रचना करता है तभी वह रचना युग-युगान्तर तक प्रासंगिक होती है तथा कालखण्ड में अपने द्वारा नूतन दृष्टि का उद्वेग करती है। भट्टनारायण की यह वेणीसंहार नाटक रचना कुछ ऐसे ही प्रसंगों, पदों को लेकर लिखी गई है। वर्तमान युग में सबसे ज्वलन्त समस्या है कि मानव की कथनी और करनी में अन्तर आ गया है। अपने द्वारा कही गई बातों को पूर्ण अंजाम न देना अपने द्वारा किये गये वादों को पूर्णता प्रदान न करना तथा मध्य में ही उनका विकल्प खोज लेना आज के मानव समाज की फितरत (आदत) हो गयी है। वेणीसंहार नाटक में जिस प्रकार संकल्प लिये गये, प्रतिज्ञायें की गयीं उन पात्रों के द्वारा जो इस नाटक के प्रमुख पात्र हैं, उन्होंने अपने जीवन में अपने संकल्पों में कहीं पर भी विकल्पों को स्थान नहीं दिया। अपनी प्रतिज्ञा का किसी के द्वारा प्रतिरोध नहीं होने दिया। अनेक विरोध होने के बावजूद भी जो शब्द उन्होंने कहे उन शब्दों को निरन्तर गति दी गयी तथा इस समाज को यह सन्देश दिया कि जो कहा जाये उसे पूर्ण करना मानव का कर्तव्य ही नहीं धर्म भी है, जैसा कि शास्त्र वचन है - यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति जो मन से विचारें वही वाणी से बोलें और जो वाणी द्वारा कहें उसे कर्म द्वारा पूरा भी करें। आज वर्तमान में यह नाटक इसीलिये अत्यन्त प्रासंगिक है और सन्देशवाहक भी है कि मानव को लालच के आगोश में पड़कर अपनी निष्ठायें नहीं बदलनी चाहियें चाहे वो सर्वसमाज के प्रति हो या राष्ट्ररक्षा के प्रति, अथवा राजनैतिक क्षेत्र में नायकों के प्रति हो। अर्थात् जब कथनी और करनी में अन्तर नहीं होगा तो वह काल

राष्ट्रोत्थान का सर्वोत्कृष्ट काल माना जायेगा। भट्टनारायण ने ऐसा ही कुछ विचार कर वेणीसंहार नाटक में कतिपय उन शब्दों का प्रयोग किया जिनका कथन और अनुकरण समान हो यह कालजयी रचना से ही वाक्यों के द्वारा अपनी उत्कृष्टता को चरम तक पहुंचाती है।

वेणीसंहार नाटक के कतिपय पात्र किसी न किसी प्रतिज्ञा से बंधे हैं, संकल्प की डोर से बंधे हैं इस नाटक का वैशिष्ट्य यह है कि वे पात्र अपनी प्रतिज्ञा को हमेशा पकड़े रखते हैं, प्रतिज्ञा की डोर उनके हाथ से छूटती नहीं दीखती। अर्थात् अपने कथन को शब्दशः सिद्ध करने का जैसे उन्हें कौशल प्राप्त हो। उन पात्रें में सर्वप्रथम इस नाटक की नायिका द्रौपदी, जो कि इस नाटक की केन्द्रबिन्दु है जिसे भरी सभा में केश पकड़कर दुःशासन द्वारा खींचा गया, वह सर्वप्रथम प्रतिज्ञा करती है कि जब तक दुःशासन के छाती का लहू अपने केशों में नहीं लगा लेती तब तक वह केश नहीं बांधेगीं इधर भीमसेन भी प्रतिज्ञा करते हैं कि **उत्तंसयिष्यति कचास्तव देवि! भीमः**[1] अर्थात् हे देवि! यह भीमसेन तुम्हारे बालों को अलंकृत करेगा। और उस जंघा को भी तोड़ेगा जिस पर तुम्हें बैठने का इशारा हुआ था - **चंचद्भुजंगभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुपयुगलस्य सुयोधनस्य।**[2] वन जाते समय पाण्डवों द्वारा कौरवों के विनाश की प्रतिज्ञा करना, जिसे स्मरण दिलाते हुये भीम सहदेव से कहते हैं-**कुरुराजस्य तावदसन्धेयता प्रतिपादिता यदैवास्माभिरितो वनं गच्छद्भिः सर्वैरेव कुरुकुलस्य निधनं प्रतिज्ञातम्।**[3] नायक अर्जुन सूर्यास्त से पूर्व जयद्रथ वध करने की प्रतिज्ञा करता है-

अद्य खलु पुत्रवधामर्षोद्दीपितेन गाण्डीविनाऽस्तमिते दिवसनाथे तस्य वधः प्रतिज्ञातः[4] जयद्रथ की माता दुःशला रोती हुई दुर्योधन को सूचित करती है कि आज सूर्यास्त के पूर्व जयद्रथवध की प्रतिज्ञा अर्जुन ने की है।

कर्ण के अपशब्दों से आहत अश्वत्थामा प्रतिज्ञा करता है कि-

अयं पापो यावन्न निधनमुपेयादरिशरैः,
परित्यक्तं तावत्प्रियमपि मयास्त्रं रणमुखे।[5]

अर्थात् यह पापी (कर्ण) जब तक शत्रुओं के बाणों द्वारा नहीं मार दिया जायेगा तब तक मैं युद्ध में अस्त्र नहीं उठाऊंगा। इस प्रकार कतिपय पात्रों ने प्रतिज्ञायें कीं, और उसे पूरा भी किया जैसा कि स्वयं दुर्योधन कहता है वेणीसंहार नाटक में - **एषाऽपि भीमसेनस्य प्रतिज्ञा पूर्यते त्वया।**[6]

पाणिनीय दृष्टि से जब हम इस नाटक को देखते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाटक पाणिनीय धातुपाठ के - तत्करोति, तदाचष्टे (चुरादिगण) पर आधारित हैं तत्करोति (ऐसा करता है) तदाचष्टे अथवा (ऐसा कहता है) इस अर्थ में किसी भी प्रातिपदिक से णिच् प्रत्यय होता है। यदि हम इस सूत्र के भावपक्ष को लें कि जैसा कहता है वैसा ही करता भी है इस आधार पर पूरा वेणीसंहार नाटक तदाचष्टे, तत्करोति परक दिखलायी देने लगता है, क्योंकि इसके प्रायः पात्र जैसा संकल्प लेते हैं उसे उसी रूप में पूरा भी करते हैं। और इन्हीं सौत्रधातु को आधार बनाकर कवि भट्टनारायण ने ऐसे अनेक तिङन्त पदों का प्रयोग किया है जो तत्करोति तदाचष्टे अर्थ में णिच्प्रत्ययान्त हैं-

1- भाव! **त्वर्यताम्, त्वर्यताम्।** एते खल्वार्यविदुराज्ञया पुरुषाः सकलमेव शैलूषजनं व्याहरन्ति।[7] त्वर्यताम् त्वरां करोति (तत्करोति अर्थ में णिच्) त्वरयति, त्वरयते= शीघ्रता करता है। कर्मणि - त्वर्यते, त्वरा-णिच्-लोट्=त्वर्यताम्।

2- तत्किमिति पारिपार्श्विकः, **नारम्भयसि** कुशीलवैः सह संगीतमेलकम्।[8] पारिपार्श्विकः- भवतु। **आरम्भयामि**। कतमं समयमाश्रित्य गीयताम्। आरम्भयसि, आरम्भयामि। आरम्भं करोति (तत्करोति अर्थ में णिच्) आरम्भयति-ते, मध्यमपुरुष में आरम्भयसि = आरम्भ करते हो, उत्तम पुरुष में आरम्भयामि=आरम्भ करता हूं। आरम्भ-णिच्-लट्(सिप्, मिप्)।

3- निर्वाणवैरदहनाः इति पठित्वाऽन्यथाऽ**भिनयति**।[9] अभिनयति, अभिनयं करोति (तत्करोति अर्थ में णिच्) अभिनयति-ते=अभिनय करता है। अभिनय-णिच्-लट् (तिप्)।

4- न **लज्जयति** दाराणां सभायां केशकर्षणम्।[10] लज्जयति, लज्जां करोति (तत्करोति अर्थ में णिच्) लज्जयति-ते=लज्जा करता है। लज्जा-णिच्-लट् (तिप्)

5- भीमसेनः-(सस्मरणम्) वत्स! कथं **चिरयति** पाञ्चाली।[11] चिरयति। चिरं करोति (तत्करोति अर्थ में णिच्) चिरयति-ते=देर करता है। चिर-णिच्-लट् (तिप्)।

6- मथुरापि हि **मूर्च्छयते** विषविटपिसमाश्रिता वल्ली।[12] मूर्च्छयते। मूर्च्छितं करोति (तत्करोति अर्थ में णिच्) मूर्च्छयति, मूर्च्छयते=मूर्च्छित करता है, बेहोश करता है। णिच्प्रत्ययान्त शब्द उभयपदी-परस्मैपदी एवं आत्मनेपदी दोनों होते हैं। मूर्च्छा-णिच्-लट् (ते)।

7- नाथ पुनरपि युष्माभिः समरादागत्याहं **समाश्वासयितव्या**।[13] समाश्वासयितव्या। समाश्वासनमाचष्टे (तदाचष्टे अर्थ में णिच्) समाश्वायसयति-ते=ढांढस बंधाता है।

कर्मवाच्य में कृत्प्रत्यय तव्य लगाकर, स्त्रीलिंग में - समाश्वासयितव्या= धीरज बंधाना चाहिये। समाश्वास-णिच्-तव्य-टाप्।

8- कञ्चुकी- **आज्ञापितो**ऽस्मि महाराजदुर्योधनेन-विनयन्धर सत्वरं गच्छ त्वम्।[14] आज्ञापितः। आज्ञां करोति (तत्करोति अर्थ में णिच्) आज्ञापयति, भूतकाल में निष्ठा (क्त) प्रत्यय होकर आज्ञापितः बना। आज्ञा कृता इत्यर्थे आज्ञापितः= आज्ञप्त किया गया जो वह।

9- ब्राह्मणानामप्याशिषा आहुतिहुतेन प्रत्वलितेन भगवता हुताशनेन च **अन्तर्यताम्**।[15] अन्तर्यताम्। अन्तरं (अन्तर्धानं) करोति (तत्करोति अर्थ में णिच्) अन्तरयति-ते=गायब करता है। कर्मवाच्य में अन्तर्यते, लोट्लकार में - अन्तर्यताम्-गायब कर दिया जाये। अन्तर-णिच्-यक्-लट्(ते)।

10- कञ्चुकी- देव! न किञ्चित्! किन्तु शमनार्थमस्याऽनिमित्तस्य विज्ञापयितो देवमिति स्वामिभक्तिर्मा **मुखरयति**।[16] मुखरयति। मुखरं करोति (तत्करोति अर्थ में) मुखरयति-ते = कहने के लिये प्रेरित करता है। मुखर-णिच्-लट्(ति)।

11- न युक्तं वीरस्य क्षत्रियस्य प्रतिज्ञातं **शिथिलयितुम्**।[17] शिथिलयितुम्। शिथिलं कराति (तत्करोति अर्थ में) शिथिलयति-ते, तुमुन् प्रत्यय करने पर शिथिलयितुम्= शिथिल करने के लिये। शिथिल-णिच्-तुमुन्।

12- यावदुपलक्षितः समिन्धेऽहं **समिन्धयामि** वह्निम्।[18] समिन्धयामि। समिन्धं करोति (तत्करोति अर्थ में) समिन्धयति-ते=प्रदीप्त करता है। उत्तम पुरुष में समिन्धयामि-प्रदीप्त करता हूं। सम्-इन्ध्-णिच्-लट् (मि)।

13- शून्येनैव रथेन याति शिविरं शल्यः कुरूञ्**छल्ययन्**।[19] शल्ययन्। शल्यं (पीडां) करोति (तत्करोति अर्थ में) शल्ययति-ते। शतृ प्रत्यय करने पर शल्ययन्=पीडित करता हुआ। शल्य-णिच्-शतृ।

14- **शब्दापयिष्ये** तावत्। अरे! रुधिरप्रिय। रुधिरप्रिय। इत एहि।[20] शब्दापयिष्ये। शब्दमाचष्टे (तदाचष्टे अर्थ में) शब्दापयति-ते। लृट् लकार भविष्यत् काल में शब्दापयिष्यते, उत्तम पुरुष में शब्दापयिष्ये= पुकारुंगी। शब्दा-आपुक्-णिच्-लृट् (इट्)।

इस प्रकार कवि भट्टनारायण के इस नाटक में णिच्प्रत्ययान्त शब्दों का बहुधा प्रयोग देखा जा सकता है, उनके इस तदाचष्टे तत्करोति अर्थ में णिच्प्रत्यय करके प्रयुक्त कतिपय पदों के प्रयोग देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वे अपने शब्द प्रयोग के द्वारा ही अपने नाटक के अभिव्यक्त उपदेश को (जैसी कथनी वैसी

करनी होनी चाहिये) बता देना चाहते हों। क्योंकि यह स्वाभाविक है कि रचनाकार का भाव, स्वभाव उसकी लेखनी को निश्चित प्रभावित करता है, उसके मानस को लेखनी मूर्तरूप देने लगती है। परिणामतः नाटक के प्रत्येक पात्र संकल्पबद्ध तो हैं ही, किन्तु उस अपने संकल्प को सभी ने समय आने पर पूरा भी किया। वेणीसंहार नाटक संकल्पित वेणी को ही नहीं संवारता है अपितु समाज की जैसी कथनी वैसी करनी रूपी श्रोणि को भी संवारता है।

संदर्भ –

1. वेणी. 1.21

2. वेणी. 1.21

3. वेणी. 1 पृ. 33

4. वेणी. 2 पृ. 105

5. वेणी. 3.49

6. वेणी. 4.4

7. वेणी. 1, पृ. 8

8. वेणी. 1, पृ. 10

9. वेणी. 1.7

10. वेणी. 1.17

11. वेणी. 1, पृ. 34

12. वेणी. 1.20

13. वेणी. 1, पृ. 53

14. वेणी. 2, पृ. 56

15. वेणी. 2, पृ. 80

16. वेणी. 2, पृ. 102

17. वेणी. 6, पृ. 350

18. वेणी. 6, पृ. 360

19. वेणी. 5.10

20. वेणी. 3, पृ. 115

20

भट्टनारायण का भाषा-कौशल

दिव्या देशपाण्डे

भट्टनारायण का वेणीसंहार नाटक जिस प्रकार नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से आदर्श नाटक है, उसी प्रकार उनकी भाषा तथा शैली का भी अपना वैशिष्ट्र्य है। विषयानुकूल एवं भावानुकूल शब्द विन्यास, मुख्यतः गौड़ी रीति के कवि होकर भी प्रसाद गुण संपन्न वैदर्भी रीति में सिद्धहस्तता, प्राकृतभाषा का प्रयोग वैचित्र्य, रसानुकूल एवं छन्दानुकूल पद एवं संवाद योजना; इन सभी दृष्टियों से वेणीसंहार नाटक अद्वितीय है। किसी भी नाट्र्य कृति में प्रयुक्त भाषा का अध्ययन अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है। वस्तुतः कवि की रचना शैली, संवादात्मकता, रस, छन्द तथा अलंकार प्रयोग; सभी दृष्टियों से भाषाप्रयोग महत्वपूर्ण है। किसी भी नाटककार का भाषा कौशल जितना उत्तम होगा उस नाटक की लोकप्रियता भी उतनी ही अधिक होगी। भट्टनारायण का वेणीसंहार इस दृष्टि से एक श्रेष्ठ नाटक है।

भट्टनारायण के भाषाकौशल की उत्कृष्टता नाटक के नामकरण में ही देखी जा सकती है। नाटक का नामकरण भीम के द्वारा दुर्योधन की जंघायें भग्न कर उसके रक्त से द्रोपदी के केश सँवारने की प्रतिज्ञा रूपी बीज पर आधारित है।

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-सञ्चूर्णितारूयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानापविद्ध घनशोणितशोणपाणि-रूत्तंसयिश्यति कचांस्तव देवि भीमः।[1]

वेणीसंहार शब्द में वेणी शब्द (वेण-इन-ङीप् वा) गुंथे हुये केशों या बालों की एक अनलंकृत चोटी जो पीठ पर लटकती रहती है;[2] उस हेतु प्रयुक्त होता है। संहार शब्द (सम-हृ-घञ) मिलाकर खींचना, साथ लाना, संचय करना इत्यादि अर्थो के साथ-साथ विनाश, समाप्ति, अन्य या उपसंहार अर्थ में प्रयुक्त होता है।[3] संपूर्ण नाटक की कथावस्तु पर दृष्टिपात करने पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है

कि नाटककार द्वारा संहार पद का प्रयोग श्लेषानुप्रमाणित है। वस्तुतः भट्टनारायण द्वारा प्रयुक्त संहार पद न केवल संयमन या बंधन के अर्थ में प्रयुक्त हो रहता है;[4] अपितु यह दुःशासनादि के विनाश को भी बतलाता है। इस प्रकार नाटक का नामकरण ही संपूर्ण कथावस्तु का निर्देश करते कर देता है। यदि अर्थ परिवर्तन की दिशाओं की दृष्टि से विचार करें तो वर्तमान में "संहार" पद अर्थसंकुचन का उदाहरण प्रतीत होता है। वर्तमान में संहार पद विनाश या अंत के अर्थ में संकुचित होता हुआ दिखाई देता है। भाषा कौशल की विवेचना करते हुए भट्टनारायण की रीति पर भी दृष्टिपात आवश्यक है क्योंकि वस्तुतः पद रचना भाषा का ही अंग है।

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।[5]

अर्थात् शरीर में जैसे कर, चरण आदि अवयवों का विन्यास होता है, उसी तरह काव्य शरीर में रस आदि का उपकार करने वाली सुबन्त - तिड़न्त आदि पदों की संयोजना को रीति कहते हैं। वेणीसंहार चूँकि वीर रसाश्रित नाटक है अतः उसमें मुख्यतः गौड़ी रीति के दर्शन होते हैं, तथापि प्रसाद गुण युक्त वैदर्भी रीति का भी उन्होंने उत्तम प्रयोग किया है। यत्र-तत्र पाञ्चाली रीति का भी प्रयोग दिखाई देता है। वस्तुतः माधुर्य, ओज एवं प्रसाद तीनों ही गुणों का मंडन एवं रसानुगम पद योजना; इन दो मुख्य विशेषताओं ने भट्टनारायण की शैली को विविधता प्रदान की है। षष्ठ अङ्क में करुण रस के प्रसंग में समास रहित कोमल पदों का सन्निवेश दृष्टव्य है, जो वैदर्भी रीति का उत्तम उदाहरण है-

तस्मै देहि जलं कृष्णे सहसा गच्छते दिवम्।
अम्बापि येन गान्धार्या रूदितेन सखीकृता।[6]

वीर रस के प्रसंग में ओजगुणयुक्त गौड़ी रीति का प्रयोग दिखाई देता है। स्वयं साहित्यदर्पणकार ने इस रीति के उदाहरण के रूप में वेणीसंहार नाटक का एक पद्य उद्धृत किया है।

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरूयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणित शोणपाणि,
रूत्तं सयिष्यति कचांस्तव देवि भीम।[8]

गौड़ी रीति युक्त इस पद्य में अनुप्रास बहुला पद योजना एक भिन्न

समन्वय है। ओजगुण युक्त वीररस से परिपूर्ण इस श्लोक के पठन अथवा श्रवण मात्र से भीम के प्रचण्ड स्वरूप समक्ष हो उठता है जो कौरवों का संहार कर द्रौपदी के केश संयमन हेतु उद्यत है। वस्तुतः यथोचित शब्द प्रयोगों द्वारा रसाभिव्यंजना भट्टनारायण की रचना का वैशिष्ट्य है। भट्टनारायण का पाञ्चाली रीति प्रयोग भी उत्कृष्ट है। साहित्यदर्पणकार पाञ्चाली रीति का लक्षण देते हुए लिखते हैं- **समस्तपञ्चशपदो बन्धः पाञ्चालिका मता।**[9] अर्थात् वैदर्भी और गौड़ी रीतियों के अवशिष्ट वर्णों से उपलक्षित, पाँच अथवा छः पदों के समास से युक्त रीति पाञ्चाली है। प्रथम अङ्क में ही भीमसेन की वीररसोचित उक्ति में पाञ्चाली रीति के दर्शन होते हैं।

युश्मच्छासनलङ्घनांहसि मया मग्नेन नाम स्थितं,
प्राप्ता नाम विर्गहणा स्थितिमता मध्येऽनुजानामपि।
क्रोधोल्लासित शोणितारूणगदस्योदिन्दतः कौरवा -
नद्यै कं दिवसं ममासि न गुरूनहिं विधेयस्तव।।[10]

छनदानुकूल पदप्रयोग भी भट्टनारायण की एक अन्यतम विशेषताएं हैं। उदाहरणार्थ-

कुरू घनोरू पदानि शनैः शनैरयि निमुञ्च गतिं परिवेपिनीम्।
सतनु बाहुलतोपनिबन्धनं मम निपीड्य गाढमुरः स्थलम्।।[11]

उपर्युक्त श्लोक में द्रुतविलम्बित छंद है। नाटककार ने छन्दनामानुकूल मन्थरता के द्योतन के लिए इस छन्द का यहां पर प्रयोग किया है। यह श्रृंगार रसात्मक पद्य है। इस पद्य में प्रयुक्त 'शनैः-शनैः' पद छन्दानुकूल है जो गमन कार्य की मन्थरता को प्रकट करता है।

करुणावस्था के चित्रण में मन्दाक्रान्ता छंद का प्रयोग कोमल पदों के सन्निवेश से और भी उत्कृष्ट दिखाई पड़ता है। दुःशासन की मृत्यु पर शोकाकुल दुर्योधन का मन्दाक्रान्ता में निबद्ध यह पद्य दृष्टव्य है।

अद्यैवावां रणमुपगतौ तातमम्बां च दृष्ट्वा,
घ्रातस्ताभ्यां शिरसि विनतोऽहं च दुःासनश्च।
तस्मिन्वाले प्रसभमरिणा प्रापिते तामवस्थां,
पार्श्व पित्रोरपगतघृणः किन्नु वक्ष्यामि गत्वा।।[12]

वेणीसंहार नाटक में भाषावैचित्र्य की दृष्टि से कुछ दुर्लभ प्रयोग भी दिखाई देते हैं।यथा - नाटक के प्रथम अङ्क में श्लेषगण्ड[13] का प्रयोग किया गया है।

निर्वाणवैरदहनाः प्रामादरीणां, नन्दन्तु पाण्डुतनयाः यह माधवेन।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाच, स्वस्था भवन्तु कुरूराजसुताः सभृत्याः।।[14]

इस पद्य में 'रक्तप्रसाधितभुवः' तथा 'क्षतविग्रहाश्च' पद द्वयर्थक हैं। द्वितीय अर्थ सांकेतिक है। 'रक्तप्रसाधित भुवः' का एक अर्थ है कि जिन्होंने अनुरक्त पांडवों को भूमि दे दी है। (रक्तेन अनुरागेणप्रसाधिता अधीनीकृताभूः पृथ्वी यैः ते रक्तप्रसाधित भुवः) तथा इस पद का दूसरा अर्थ है -जिन्होंने रुधिर से पृथ्वी को अलंकृत किया है।(रुधिर व्याप्तभूमयः)। इसी प्रकार क्षतविग्रहाः का अर्थ है, जिनका युद्ध समाप्त हो गया है (विनष्ट कलहाः) तथा अन्य सांकेतिक अर्थ है - जिनके शरीर क्षत-विक्षत हैं (छिन्न शरीराः)। इस प्रकार श्लेषानुप्राणित पदों के प्रयोग में भट्टनारायण सिद्धहस्त हैं। 'रक्तप्रसाधित भुवः' इत्यादि पदों में पताकास्थानक एवं वस्तु ध्वनि भी है।

साभिप्राय एवं सटीक पदों का प्रयोग भी भट्टनारायण की एक अद्भुत विशेषता है। इस संदर्भ में डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास' में लिखते हैं-

''प्रथम अङ्क में सहदेव कहते हैं - जो ज्योति क्रुद्ध आर्य भीम के भीतर विद्युत् की भाँति भरी हुई है, उसको वर्षा के समान यह द्रौपदी बढ़ा देगी-

यद्वैद्युतमिव ज्योतिरार्ये क्रुद्धेऽत्र सम्भृतम्।
तत्प्रावृडिव कृष्णेयं नूनं संवर्धयिष्यति।।

यहाँ भीम में ज्योति के आपूरित होने का अर्थ बताने के लिए 'सम्भृतम्' पद का प्रयोग बड़ा सटीक है। भीम की ज्योति या तेजस्विता को विद्युत् तथा द्रोपदी को वर्षा से उपमा देकर कवि ने सारे प्रसंग को सुंदर रूप में व्यक्त किया है।''[15]

भाषा कौशल के विवेचन की दृष्टि से नाटक के संवाद कौशल का अध्ययन भी आवश्यक है। क्योंकि संवाद की उत्कृष्टता भाषा प्रयोग पर निर्भर है। वेणीसंहार नाटक के संवादों में भाषाशैली की विविधता दृष्टिगोचर होती है। विषयानुकूल, भावानुकूल एवं रसानुकूल कहीं दीर्घ संवाद दिखाई देते हैं तो कहीं स्वल्पाक्षर संवाद। कहीं-कहीं संवादों की भाषा अत्यंत सरल, प्रसादगुणयुक्त सामान्य बोलचाल की भाषा है। उदाहरण दृष्टव्य है-

राजा - किं नाम?

कञ्चुकी - भग्नं भीमेन।

राजा - आ किं प्रलपसि?

भानुमति - आर्यं, किमनर्थं मन्त्रयसे (अज्ज किं अणत्थं मन्तेसि।)

कञ्चुकी - (संभयम्) ननु भग्न भीमेन भवतः।

राजा - धिक् प्रलापिन् वृद्धापसद, कोऽयमद्य ते व्यामोहः

कञ्चुकी - देव, न खलु कश्चिद् व्यामोहः। सत्यमेव ब्रवीमि।[16]

वीररौद्रादि रसों के प्रसंग में भीम-अश्वत्थामा इत्यादि के संवादों में समासबहुल दीर्घ वाक्यों का प्रयोग दिखाई देता है। यद्यपि दीर्घसमासयुक्त लंबे-लंबे संवाद नाटक के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं तथापि भावानुकूल एवं रसानुकूल होने की दृष्टि से यह संवाद अभिनय कौशल एवं संवाद संप्रेषण को प्रभावित नहीं करते। अश्वत्थामा का यह संवाद दृष्टव्य है-

महाप्रलयमारूतक्षुभित पुष्करावर्तक-प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरवानुकारी मुहुः।
श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दर, कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्व पुरः।।[17]

(विचिन्त्य) ध्रुवं गाण्डीविना सात्यकिना वृकोदरेण वा यौवनदर्पादतिक्रान्त मर्यादेन परिकोपितस्तातः। यतः समुल्लङ्घयशिय प्रियतामात्म प्रभाव सदृशमा चेष्टते।।[18] वेणीसंहार में संवाद कौशल की दृष्टि से एक न्यूनता अवश्य दिखाई देती है। नाटक में प्राकृत भाषा बोलने वाले पात्रों द्वारा भी दीर्घसमासयुक्त भाषा का प्रयोग किया गया है, जो नाटक की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। चतुर्थ अङ्क में सुन्दरक का संवाद दृष्टव्य है-

ततो देव दोहिणं वि ताणं अण्णोण्णसिंहणादगज्जिदपिसुणं विविहपरिमुक्कप्पहरणाहरकवअसगलिदजलणविज्जुच्छडाभासुरं गम्भीरत्थणिअचापजलहरंप्पसरन्तसरधारासहस्सवरिसं जादं समरदुद्दिणम्।[19]

भाषा कौशल विवेचन की दृष्टि से इस नाटक में प्रयुक्त प्राकृत भाषा के प्रयोग पर भी दृष्टिपात आवश्यक है। वेणीसंहार नाटक में मुख्यतः शौरसेनी तथा मागधी प्राकृत का प्रयोग हुआ है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार - ‘शौरसेनी प्रयोक्तव्यातादृशीनां च योषिताम्।[20] अर्थात उत्तमा, मध्यमा और शिक्षित स्त्रियों की शौरसेनी भाषा का प्रयोग होना चाहिए। साथ ही -

चेटानामप्यनीचानामपि स्यात्सौरसेनिका।[21]

अर्थात् अनीच(उत्तम तथा मध्यम) दासियों में शौरसेनिका भाषा हो। प्राकृत भाषा प्रयोग के विषय में वेणीसंहार नाटक में भट्टनारायण ने भी नाट्यतत्वज्ञों का अनुसरण किया है। स्त्री पात्रों के संवाद शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध है यथा प्रथम तथा षष्ठ अङ्क में द्रौपदी तथा चेटी का संवाद, द्वितीय अङ्क में चेटी का संवाद, सखी सुवदना तथा चेटी का संवाद आदि। शौरसेनी प्राकृत की कुछ विशेषताएं नाटक में दृष्टव्य है।

1. शौरसेनी में आदि में अवर्तमान असंयुक्त त एवं थ के स्थान पर द और ध आदेश होता है। **अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ।**[22]
   उदाहरण - सखी - सहि, अलंसदावेण। कहेदु पि असही (सखि, अलं सन्तापेन, कथयतु प्रियसखी)[23]
2. शौरसेनी में भू धातु के हकार का भ आदेश विकल्प से होता है। जैसे - भोदि, होदि (भवति) **भुवो हो हुवो।**[24] उदाहरण - द्रौपदी- हञ्जे बुद्धमदिए होदि एवं जई महाराअस्स पडिउलो हुविस्सदि। (हञ्जे बुद्धिमति के भवत्येतद्यदि महाराजस्य प्रतिकुलो भविष्यति)[25]
3. शौरसेनी में क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर इअ ऐसा आदेश होता है। भण् से क्त्वा प्रत्यय करने पर उक्त सूत्र से इअ आदेश करने पर भणिअ = भणित्वा बनता है। भूक्त्वा - यहां प्रकृत सूत्र से क्तवा को इअ करने पर भूइअ इस दशा में गुण अवादेश भविअ। **क्त्व इअः।**[26] क्त्वा इत्यस्य इअ आदेशः भणिअ। भविअ (स्पष्टम्) भणित्वा भूत्वा।
   उदाहरण- द्रौपदी- हञ्जे जइ एव्व ता अवहीरणादि एसा म आसासअदि ता एत्थउवविट्ठा भविअ सुणोमि दाव णाहस्स ववसिदं।
   (हञ्जे यद्येव तदवधीरणाप्येषा मामाश्वासयति। तदुपविष्टा भूत्वा श्रृणोमि तावन्नाथस्य व्यवसितम्।)[27]
4. शौरसेनी में एव इस अव्यय के स्थान पर जेव्व का प्रयोग होता है।

एवस्य जेव्व स्पष्टम्। जेव्व - एव। एवस्य जेव्व एव इत्ययव्ययस्य स्थाने जेव्व इति प्रयुक्तं भवति। जेव्व एव।[28] इसी तरह इव इस अव्यय के स्थान में विअ का प्रयोग किया जाता है।

सुगमम्। विअ - इव[29]

इवस्य विअ - इव इत्यव्ययस्य स्थाने विअ इति प्रयुज्यते। विअ = इव

इसी तरह

दृशेः पेक्खः[30] दृश् धातु को पेक्ख आदेश होता है तिङ् परे रहने पर।

उदाहरण :- सुन्दरक-तदो देव पेक्खामि कुमाल हतसारहितुलड्गंलूणादवतचावचामर केदुवंस सग्गब्भट्टं विअ सुलकुमाल एक्केण ज्जेवं ....

(ततो देव, प्रेक्षे कुमार हतसारथितुरङ्ग लूनातपत्रचापचामर केतुवंश स्वर्गभ्रष्टमिव **सुरकुमारमेकेनैव...........**)[31] शौरसेनी प्राकृत के समान ही मागधी प्राकृत भाषा के प्रयोग में भी भट्टनारायण की कुशलता दिखायी देती है। प्राकृत सर्वस्वम् के अनुसार राक्षस, भिक्षु, क्षपणक तथा चेटी आदि की भाषा का नाम मागधी है। **राक्षसभिक्षुक्षपणकचेटाद्या मागधी प्राहुः इति कोहल।**[32] वेणीसंहार नाटक के तृतीय अङ्क में राक्षस तथा राक्षसी के संवाद मागधी प्राकृत में निबद्ध है। एक प्रयोग दृष्टव्य है। **षसोशः**[33]

अर्थात् शब्दों में वर्तमान मूर्धन्य तथा दन्त्य ष-स के स्थान पर तालव्य शकार होता है। उदाहरण - राक्षस - शाहु वशागन्धे शाहु। शोहणं तुए किदम्। बलि अह्मि पिवाशिए। ता उवणेहि (सपरितोषम्) साधु, वसागन्धे, साधु। शोभन त्वया कृतम्। बलवदस्मि पिपासितः तदुपनय।[34] इस प्रकार स्पष्ट है कि, भाषाकौशल की दृष्टि से वेणीसंहार एक उत्कृष्ट नाटक है। भावानुगम्य तथा रसानुकूल भाषा, साभिप्राय पदों का प्रयोग, प्राकृतभाषा विन्यास इत्यादि अनेकानेक विशेषतायें भाषा कौशल की दृष्टि से नाटक को अद्वितीय बनाती हैं।

संदर्भ -

1. *वेणीसंहार नाटकम्, 1.21*
2. *वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, पृष्ठ सं. 1049*
3. *वही, पृष्ठ सं. 1134*
4. *'युधिष्ठरः -देवि एष ते वेणीसंहारोऽभिनन्द्यते नभस्तलसंचारिणा सिद्धजनेन।' वेणीसंहार - नाटकम् अङ्क 06, पृष्ठ सं 284*
5. *साहित्यदर्पण, 9.1*
6. *वेणीसंहार नाटकम्, 6.32*
7. *साहित्यदर्पण, 9.3*
8. *वेणीसंहार नाटकम्, 1.21*

9. साहित्यदर्पण, 9.4

10. वेणीसंहार नाटकम्, 1.12

11. वही, 2.20

12. वही 4.15

13. द्वयर्थता यत्र वाक्यानां श्लेषेणार्थः प्रतीयते।
    शब्दभङ्ग्यानुपात्तोऽपि श्लेषगण्डः स उच्यते।।

14. वेणीसंहार नाटकम्, 1.7

15. डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, पृष्ठ सं. 323

16. वेणीसंहार नाटकम्, अङ्क 2, पृष्ठ सं. 76

17. वेणीसंहार नाटकम्, 3.4

18. वही, तृतीय अङ्क, पृष्ठ सं. 94

19. वही चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ सं. 156

20. साहित्यदर्पण, 6.158

21. वही, 6.164

22. प्राकृतप्रकाश, 12/3

23. वेणीसंहार नाटकम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ सं. 54

24. प्राकृतप्रकाश, 8/1

25. वेणीसंहार नाटकम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ सं. 24

26. प्राकृतप्रकाश, 12/9

27. वेणीसंहार नाटकम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ सं. 24

28. प्राकृतप्रकाश, 12/23

29. वही, 12/24

30. वही, 12/18

31. वेणीसंहार नाटकम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ सं. 170

32. प्राकृतसर्वस्वम्, 12/1 (वृत्ति)

33. प्राकृतप्रकाश, 11/3

34. वेणीसंहार नाटकम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ सं. 88

21

वेणीसंहार का सूक्ति-सौन्दर्य

नौनिहाल गौतम

काव्यों का सर्वाधिक रमणीय रूप नाट्य है। नाट्य-प्रयोजन का निरूपण करते हुए भरतमुनि कहते हैं-

'धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।[1]

अर्थात् नाट्य धर्म, यश और आयु को बढ़ानेवाला, हित करने वाला, बुद्धि का विकास करने वाला तथा लोक को उपदेश देने वाला होगा। यद्यपि नाट्य के सम्पूर्ण प्रभाव से 'रामादिवद् वर्तितव्यं, न रावणादिवत्' यह उपदेश प्राप्त होता है किन्तु नाट्य में बीच-बीच में कवि द्वारा पिरोयी गयी सूक्तियाँ भी सहृदयों को सरस उपदेश देती हैं। नाट्य में पिरोयी गयी सूक्तियों की महत्ता द्रष्टव्य है-

''संस्कृत नाटकों में भी सूक्तियों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। संवादों में पिरोयी गयी सूक्तियाँ प्रसंगानुसार तो अर्थ देती ही हैं, सामान्य रूप से प्रयोग करने पर भी सहृदयों को आनन्द देनेवाली होती हैं। इन से नाटकीयता में भी वृद्धि होती है। कम शब्दों में अधिक अर्थ देनेवाली सूक्तियाँ नाट्य में चमत्कार को बढ़ाने वाली होती हैं।''[2]

नाट्यशास्त्र के विधानों के अनुरूप रचित संस्कृत नाटक वेणीसंहार का नाट्य परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस के रचनाकार महाकवि भट्टनारायण हैं। इस नाटक में प्रयुक्त सूक्तियाँ गंभीर अर्थों को प्रकट करनेवाली हैं। इन सूक्तियों को विभिन्न विषयों के आधार पर मुख्य रूप से निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत रखा जा सकता है- पराक्रम, सदाचार, ईश्वर, भाग्य या अदृष्ट, स्नेह, नीति इत्यादि।

पराक्रम/युद्ध - वेणीसंहार वीर रस प्रधान नाटक है। इसमें महाभारत के युद्ध का

संक्षिप्त रूप उपस्थित हो जाता है। युद्ध की भयंकरता के बीच तत्संबंधी विचार यत्र तत्र सूक्तियों के रूप में विद्यमान हैं। इनमें शत्रु से निपटने की रणनीति भी दृष्टिगोचर होती है।

पर पक्ष के प्रतिकार के उपाय का चिन्तन एकान्त में करना- 'रहः परप्रतीघातोपायश्चिन्त्यताम्'[3] समय आने पर प्रतिकार करना- 'कालानुरूपं प्रतिविधातव्यम्'[4] साहसिक कर्मों में ही लक्ष्मी का निवास- 'भवति तनय! लक्ष्मीः साहसेष्वीदृशेषु।' शत्रु के क्षेत्र में सावधानीपूर्वक बर्ताव करना- 'अप्रमत्तसञ्चरणीयानिरिपुबलानि श्रूयन्ते'[5]। किसी भी तरह से होने वाले शत्रुओं के अपकार से अत्यन्त प्रसन्नता-

'गुप्त्यासाक्षान्महानल्पः स्वयमन्येन वा कृतः।
करोति महतीं प्रीतिमपकारोऽपकारिषु।।'[6]

पराक्रमी वीरों को कठोर वाणी के द्वारा युद्ध से विरक्त न करना- 'न खल्वस्मिन् काले पराक्रमवतामेवंविधानां वाङ्मात्रेणाऽपि विरागमुत्पादयितुमर्हसि'[7] कम बलवान् शत्रु से सन्धि न करना- 'हीयमानान् किल रिपून् नृपाः सन्दधते कथम्'[8] परिजन के नाश को विस्तार से न कहना- 'न युक्तं बन्धुव्यसनं विस्तरेणावेदयितुम्'[9] योद्धाओं का अन्तिम क्षण तक समर में आशा न छोड़ना- 'आशा बलवती राजन्! शल्यो जेष्यति पाण्डवान्'[10]। तेजस्वी वीरों द्वारा हाथों में शस्त्र धारण कर अपने मारे गये बन्धुजनों का बदला लेना- 'तेजस्वीरिपुहतबन्धुदुःखपारं बाहुभ्यां व्रजति धृता- युधप्लवाभ्याम्'[11]। मृत्यु अवश्यंभावी है इसलिए कभी भी युद्ध से पलायन न करना-

'यदि समरमपास्य नास्ति मृत्योर्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम्।
अथ मरणमवश्यमेवजन्तोः किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुध्वे।।'[12]

विजय चाहने वाला जब तक जीवित रहता है तब तक बुद्धिमान् जनों द्वारा उपदेश का पात्र रहता है- 'यावत्प्राणिति तावदुपदेष्टव्यभूमिर्विजिगीषुः प्रज्ञावताम्'[13]। उपर्युक्त सूक्तियों से युद्ध के तत्कालीन परिदृश्य का भी पता चलता है।

सदाचार - व्यवहार में लोकाचार और शिष्टाचार का सुदृढ़ निरूपण वेणीसंहार में प्राप्त होता है। जैसे - लोकाचार का अतिक्रमण न करना- 'अनतिक्रमणीयंलोकवृत्तम्'[14]। शिष्टाचार का उल्लंघन न करना- 'अनुल्लङ्घनीयः समुदाचारः'[15]।

गुरुजनों के अभिवादन की अनिवार्यता- 'न युक्तमनभिवाद्य गुरून् गन्तुम्' पृ.284। गुरुजनों की वन्दनीयता- 'स्वयं विश्राव्य नामकर्मणी वन्दनीयाः गुरवः'[16]। पुत्रों द्वारा इस लोक तथा परलोक में भी पितरों का अनुसरण- 'पुत्रैः पितरो लोकद्वयेऽप्यनु-वर्तनीयाः'[17]।

भगवान्/ईश्वर - महाभारत कथाश्रित इस नाटक के पात्रों में से एक महत्त्वपूर्ण पात्र श्रीकृष्ण हैं। उनका प्रभाव इसकी कथा पर है। इस कारण भगवान् या ईश्वर की महत्ता इस नाटक में दृष्टिगोचर होती है। भगवान् प्रसन्न होकर सब कुछ प्रदान करने वाले हैं- 'न किञ्चिन्न ददाति भगवान् प्रसन्नः'[18]। भगवान् जिनका भला चाहें उनकी विजय ही होती है- 'कुतस्तस्य विजयादन्यद् यस्य भगवान् पुराणपुरुषो नारायणः स्वयं मङ्गलमाशास्ते'[19]। भगवान् का वचन अन्यथा नहीं होता है- 'यद्देवस्त्रिभुवननाथो भणति तत्कथमन्यथाभविष्यति'[20]। भगवान् के सन्देश को कोई भी नहीं बदल सकता है- 'को हि नाम भगवता सन्दिष्टं विकल्पयति'[21]। देव आराधन से अशुभ स्वप्न भी शुभ परिणाम वाले हो जाते हैं- 'अकुशलदर्शनाः स्वप्ना देवतानां प्रशंसया कुशलपरिणामा भवन्ति'[22]।

भाग्य/अदृष्ट - ग्रह, स्वप्न, अपशकुन तथा दिव्य उत्पात आदि कभी-कभी फल देने वाले हैं। बुद्धिमान् जन इन से नहीं डरते हैं-

'ग्रहाणां चरितं स्वप्नो निमित्तान्युपयाचितम्।
फलन्ति काकतालीयं तेभ्याः प्राज्ञाः न बिभ्यति।।'[23]

किसी कुल में जन्म होना भाग्य के अधीन है किन्तु पुरुषार्थ स्वयं व्यक्ति के अधीन होता है-

'सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्ममदायत्तं तु पौरुषम्।।'[24]

पुण्यवान् लोगों को दुःख सहने पड़ते हैं- 'पुण्यवन्तो हि दुःखभाजो भवन्ति'[25] स्वप्न में व्यक्ति कई तरह के प्रलाप करता है- 'स्वपञ्जनः किं न खलु प्रलपति'[26]। प्रायः शुभ और अशुभ स्वप्न दिखाई पड़ते हैं- 'प्रायेणैव हि दृश्यन्ते स्वप्नाः कामं शुभाशुभाः।'[7]

नीति - वेणीसंहार की नीतिपरक सूक्तियाँ भी प्रभावशाली हैं। जैसे- कहना सरल है, करना बहुत कठिन- 'वक्तुं सुकरं दुष्करमध्यवसितुम्'[28]। उपकारीजनों के अभाव में

उपकरण (सुख-भोग) महत्त्वहीन है- 'उपक्रियमाणाभावे किमुपकरेणन'[29]। घड़े के कुँएं में गिर जाने पर रस्सी भी उसी में नहीं डाल दी जाती है- 'न घटस्य कूपपतने रज्जुस्तत्रैव प्रक्षेप्तव्या'[30]। धीरपुरुष यदि नीच लोगों के प्रति उपेक्षा का भाव रख कर उन्हें दण्डित न करें तो नीचों को इससे बढ़ावा मिलता है-

'उपेक्षितानां मन्दानां धीरसत्त्वैरवज्ञया।
अत्रसितानां क्रोधान्धैर्भवत्येषा विकत्थना।।'[31]

स्नेह - स्नेहीजन के द्वारा कहे जानेवाले कठोर वचन भी हितकर ही होते हैं- 'स एव स्निग्धो जनो यः पृष्टः परुषमपि हितं भणति'[32]। किसी के द्वारा कहे बिना भी स्वामी का हित साधना ही हृदयगत स्वामी भक्ति को प्रकट करता है- 'अनुक्तहितकारिता हि प्रकाशयति मनोगतां स्वामिभक्तिम्'[33]। पति के संग से पत्नियों के चित्त भी उनके जैसे हो जाते हैं। विष के वृक्ष पर चढ़ी हुई मधुर लता भी मूर्च्छित कर देने वाली हो जाती है-

'स्त्रीणां हि साहचर्याद् भवन्ति चेतांसि भर्तृसदृशानि।
मधुरापि हि मूर्च्छयते विषविटपिसमाश्रितावल्ली।।'[34]

अन्य - कुछ अन्य सूक्तियाँ जैसे-प्राकृतिक स्वभाव बड़ी कठिनाई से छूटता है- 'प्रकृतिर्दुस्त्यजा'[35]।

महाभारत के युद्ध की कथा पर आधारित वेणीसंहार नाटक की अधिकतर सूक्तियाँ युद्ध/पराक्रम/शत्रुता पर केन्द्रित हैं। इसके साथ ही लोकाचार/शिष्टाचार के प्रति भी आस्था विद्यमान है। ये सूक्तियाँ कथा के प्रसंग में गहरा प्रभाव छोड़ती हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ - वेणीसंहारनाटक, पं. परमेश्वरदीन पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2005 ई.

सन्दर्भ -

1. नाट्यशास्त्र, 1.116
2. नाट्यम् अंक 89-90, पृ. 134, मुद्रा राक्षस का सूक्ति सौन्दर्य, डॉ. नौनिहाल गौतम
3. वेणीसंहारनाटक, पृ.265
4. वही, पृ.267
5. वही, पृ.54
6. वही, 2/3, पृ.63

7. वही, पृ.297

8. वही, 5/6, पृ.259

9. वही, पृ.34

10. वही, पृ.279

11. वही 3/27, पृ.159

12. वही, 3/6, पृ.130

13. वही, पृ.257

14. वही, पृ.375

15. वही, पृ.284

16. वही, पृ.284

17. वही, पृ.145

18. वही, पृ.406

19. वही, पृ.402

20. वही, पृ.327

21. वही, पृ.327

22. वही, पृ.63

23. वही, 2/15, पृ.84

24. वही, 3/37, पृ. 173

25. वही, पृ.236

26. वही, पृ.62

27. वही, 2/14, पृ.83

28. वही, पृ.170

29. वही, पृ.254

30. वही, पृ.254

31. वही, 3/43, पृ. 179

32. वही, पृ.82

33. वही, पृ.33

34. वही 1/20, पृ.39

35. वही, पृ.159

22

वेणीसंहार में रसोद्भावना

तरुण कुमार शर्मा

भारतीय काव्यशास्त्र में रस की अवधारणा आदिकाल से ही चली आ रही है। संसार का कोई भी ऐसा काव्य सिद्धान्त नहीं है, जो किसी न किसी रूप में काव्य के आनन्द को स्वीकार न करता हो। काव्य पढ़ने या नाटक देखने से जो विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है उसे रस कहते हैं। 'रस्यते इति रसः' के रूप में रस शब्द की व्युत्पत्ति मानी गयी है अर्थात् जिसका आस्वाद किया जाय अथवा जिससे आनन्द की प्राप्ति हो वही रस है आचार्यों ने भी रस को काव्य की आत्मा माना है। रस में आस्वाद एवं द्रवत्व दो धर्म विद्यमान हैं। ऋग्वेद में रस का प्रयोग एक स्थान पर सोमरस के लिए आस्वादन अर्थ में किया गया है - 'दधानः कलशे रसम्'[1] आगे चलकर उपनिषद् ग्रन्थों में उसके आस्वादन और द्रवत्व दोनों प्रकार के स्वभावों का वर्णन बहुत ही सूक्ष्म ढंग से किया गया है।[2] रस का अनेक प्रकार से विवेचन दर्शन ग्रन्थों, रामायण और महाभारत आदि में भी किया गया है; किन्तु काव्य के अनुरूप रस की सम्यक् व्याख्या सबसे पहले आचार्य भरत ने ही की है। रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भारत का कहना है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से रस की निष्पत्ति होती है जैसा कि नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित भी किया गया है-

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः''।[3]

वेणीसंहार भट्टनारायण द्वारा रचित वीर रस प्रधान नाटक है। वेणीसंहार में शृंगार रस, रौद्र रस, बीभत्स, करुण आदि रसों का प्रयोग हुआ है। नाटक के प्रारम्भ एवं अन्त में वीर रस का ही अधिक प्रयोग हुआ है। अतः वेणीसंहार का अंगी रस वीर ही है। अन्य रस अंग रूप में प्रयुक्त हुए है। ''एक एव भवेदंगी

शृंगारो वीर एव वा'' इस नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार शृंगार अथवा वीर रस में से किसी एक रस की ही प्रधानता होती है। अवलोकन के अनन्तर इस नाटक में शृंगार, वीर, बीभत्स एवं करुण आदि अन्य रसों की भी अभिव्यक्ति हुई है, लेकिन सभी रस अंग रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। वेणीसंहार नाटक में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अनवरत रूप से केवल वीर रस ही परिलक्षित नहीं होता है अपितु नाटक के प्रथम अंक में वीर रस की बहुलता है द्वितीय अंक में शृंगार रस का आधिक्य है। तृतीय अंक में वीर एवं करुण रसों की समान रूप से अनुभूति होती है। चतुर्थ अंक में भी वीर एवं करुण रस का सम्मिश्रण समुपलब्ध है। पंचम और छठे अंक का पूर्व भाग करुण रस प्रधानता से आविष्ट है अन्त में निश्चित रूप से वीर रस की अनुभूति हुई है, वैसे देखा जाय तो वीर एवं करुण दोनों ही रसों की बहुलता परिलक्षित होती है किन्तु वीर रस का ही प्राचुर्य दिखलाई पड़ता है अतः इस नाटक का रस वीर रस ही अंगी रस स्वीकार करना उचित होगा और अन्य रस अंगभूत ही माने जायेंगे।

वीर रस - वेणीसंहार नाटक में ऐसे अनेक स्थल आये हैं, जहाँ भीम एवं दुर्योधन की उक्तियों में वीर रस की मनोहर अभिव्यक्ति हुई है। वेणीसंहार के प्रथम अंक में भीम सहदेव से कहता है कि क्या मैं युद्ध में क्रोध से सौ कौरवों का वध नहीं करूँगा? क्या मैं दुःशासन की छाती का खून नहीं पीऊँगा? क्या मैं गदा से दुर्योधन की जंघा नहीं तोड़ूँगा? आपके राजा युधिष्ठिर सन्धि करते हैं तो करते रहें मैं सन्धि नहीं करूँगा जैसा कि प्रतिपादित भी किया गया है-

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपति पणेन।।[4]

एक स्थल पर वीर रसोक्ति का निदर्शन करते हुए भीम द्रौपदी से प्रतिज्ञा करते हुए कहता है कि हे देवी, भीम चंचल भुजाओं से घुमाई हुई प्रचण्ड गदा की चोट से दुर्योधन की जंघाओं को तोड़कर और उससे निकले हुए गाढ़े और चिकने खून से लाल हाथों से तुम्हारे केशों को सँवारेगा जैसा कि वेणीसंहार के प्रथम अंक में प्रतिपादित भी किया गया है -

चंचद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि! भीमः।।[5]

इसी तरह दुर्योधन की उक्ति में भी वीर रस का परिपाक परिलक्षित होता है। एक स्थल पर दुर्योधन भीम से कहते हैं कि हे भीम तुम सभी पाण्डवों और राजाओं के सामने मेरी आज्ञा से द्रौपदी को बाल पकड़कर खींचा गया था झगड़ा मुझसे है अन्य राजाओं ने क्या अपकार किया था जो उन्हें मारा है? मुझ महा बलशाली को बिना जीते ही तुम्हें इतना गर्व है जैसा कि वेणीसंहार के पंचम अंक में उल्लेख प्राप्त होता है-

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी।
अस्मिन् वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिरेकद्रणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः।।[6]

वेणीसंहार के द्वितीय अंक में दुर्योधन द्वारा अपने पराक्रम का वर्णन किया गया है, जिसमें वीर रस की उद्भावना परिलक्षित होती है जैसा कि प्रतिपादित भी किया गया है-

कोदण्डज्याकिणांकैरगणितरिपुभिः कंकतोन्मुक्तदेहैः
श्लिष्टाऽन्योन्यातपत्रैः सितकमलवनभ्रान्तिमुत्पादयद्भिः।
रेणुग्रस्तार्कभासां प्रचलदसिलतादन्तुराणां बलाना-
माक्रान्ता भ्रातृभिर्मे दिशि दिशि समरे कोटयः सम्पतन्ति।।[7]

इसी प्रकार वेणीसंहार के चतुर्थ अंक में भी वीररसोक्ति के माध्यम से वीर रस का एक श्लोक अवलोकनीय है-

राज्ञो मानधनस्य कार्मुकभृतो दुर्योधनस्याग्रतः
प्रत्यक्षं कुरुबान्धवस्य मृषतः कर्णस्य शल्यस्य च।
पीतं तस्य मयाद्य पाण्डववधू केशाम्बरा कर्षिणः
कोष्णं जीवत एव तीक्ष्ण करजक्षुण्णादसृग्वक्षसः।।[8]

वेणीसंहार के पांचवे अंक के एक स्थल पर अर्जुन की उक्ति में वीर रस का परिपाक दर्शनीय है अर्जुन कहता है कि तुम्हारे पुत्रों ने जिस पर सभी शत्रुओं के

जीतने की आशा लगा रखी थी जिसके अभिमान से उन्होंने संसार को तिनके के समान अपमानित व तिरस्कृत किया था उसी राधा पुत्र कर्ण को युद्ध में मारने वाला यह मँझला पाण्डव अर्जुन आप दोनों माता-पिता को प्रणाम करता है जैसा कि प्रतिपादित भी किया गया है-

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः।
रण शिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम्।।[9]

शृंगार रस- वेणीसंहार नाटक का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इसमें शृंगार रस के संयोग शृंगार एवं वियोग शृंगार दोनों ही पक्ष परिलक्षित होते हैं। नाटक के द्वितीय अंक में कुछ श्लोकों में शृंगार रस की मनोहर उद्भावना देखी जा सकती है।

एक स्थल पर दुर्योधन भानुमती से कहता है- प्रेम के कारण स्तिमित नेत्रों वाले तुम्हारे मुख चन्द्र ने कमल की शोभा को जीत लिया है। लज्जा के कारण स्पष्ट शब्द नहीं निकल पा रहे हैं; नियम पालन के कारण अधरों से अलक्तक हट गया है ऐसे मन्द स्मित युक्त तुम्हारे मुख चन्द्र का पान करना चाहता हूँ। मुझ दुर्योधन के लिए अन्य क्या दुर्लभ है? जैसा कि उल्लेख भी प्राप्त होता है-

प्रेमाबद्धस्तिमितनयनापीयमानाब्जशोभं
लज्जायोगादविशदकथं मन्दमन्दस्मितं वा।
वक्त्रेन्दु ते नियममुषितालक्तकाग्राधरं वा
पातुं वांछा परमसुलभं किं नु दुर्योधनस्य।।[10]

इसी प्रकार द्वितीय अंक के एक स्थल पर दुर्योधन भानुमती से शृंगार-रसोक्ति के माध्यम से कहता है - हे परस्पर मिली हुई जंघाओं से युक्त भानुमति! धीरे धीरे चलो। अपनी लड़खड़ाती हुई गति का परित्याग कर दो हे सुन्दरि! अपनी दोनों भुजाओं को मेरे गले में डाल कर अपनी छाती से मेरी छाती की जोर से दबाओ अर्थात् मेरा प्रेमपूर्वक आलिंगन करो जैसा कि प्रतिपादित भी किया गया है -

कुरु घनोरु! पदानि शनैः शनै -
रयि विमुंच गतिं परिवेपिनीम्
सुतनु! बहुलतोपरिबन्धनं
मम निपीडय गाढमुरस्थलम्।।[11]

एक स्थल पर पास में बैठी हुई भानुमती को देखकर दुर्योधन के हृदय में आने वाले कुछ शृंगार परक विचार अवलोकनीय है - दुर्योधन भानुमती से कहता है हे करभोरु! वायु से जिस जघन स्थल का वस्त्र हिल रहा है तथा जो मेरे नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाला है मेरी अवस्था को देखकर आप भी आनन्द को प्राप्त हो रही हो यही स्थान समुचित रूप से अधिक समय तक बैठने स्थान है जैसा कि उल्लेख भी प्राप्त होता है-

लोलांशुकस्य पवनाकुलितांशुकान्तं
त्वद्दृष्टिहारि मम लोचनबान्धवस्य।
अध्यासितुं तव चिरं जघनस्थलस्य
पर्याप्तमेव करभोरु! ममोरुयुग्गम्।।[12]

इसी प्रकार वेणीसंहार के एक अन्य स्थल पर भी संयोग शृंगार रस की छटा दर्शनीय है-

किं कण्ठे शिथिलीकृतो भुजलतापाशः प्रमादान्मया
निद्राच्छेदविवर्तनेष्वभिमुखं नाद्यासि संभाविता।
अन्यस्त्रीजनसंकथालघुरहं स्वप्ने त्वया लक्षितो
दोषं पश्यसि कं? प्रिये ! परिजनोपालम्भयोग्ये मयि।।[13]

वेणीसंहार के द्वितीय अंक में ही संयोग शृंगार रसोद्भावना के अवसर पर दुर्योधन भानुमती से कहता है कि श्वेत एवं विस्तृत नेत्र कोण तक व्याप्त दृष्टि को मेरे ऊपर डालो तुम्हारी घबराहट से क्या लाभ, मधुर मुस्कान से युक्त होकर मुझसे वार्तालाप करो एवं मेरे हाथों की अंजली तुम्हारी सेवा करने के लिए सर्वदा समर्थ है जैसा कि प्रतिपादित भी किया गया है-

विकिर धावलदीर्घापांगसंसर्पिचक्षुः
परिजनपथवर्तिन्यत्र किं संभ्रमेण।
स्मितमधुरमुदारं देवि मामालपोच्चैः
प्रभवति मम पाण्योरंजलिः सेवितुं त्वाम्।।[14]

इस प्रकार वेणीसंहार का द्वितीय अंक में अनेक ऐसे उदाहरण आये हैं जो इस नाटक के संयोग शृंगार रस को पुष्ट कर नाटक को उत्कृष्ट बनाने में बल प्रदान करते हैं।

करुण रस - वेणीसंहार वीर रस प्रधान नाटक होने के साथ साथ उसमें करुण रस का भी मनोहरी चित्रण हुआ है। कुछ प्रसंगों में करुण रस का परिपाक पदे पदे परिलक्षित होता है। चर्वाक राक्षस से भीम की मृत्यु का झूठा समाचार सुनकर युधिष्ठिर शोक करते हुए कहते हैं कि तुमने मेरे बाद माता का दूध पिया; मेरा उच्छिष्ट खाया और यज्ञों में मेरे बाद ही सोम रस का पान किया। अब तुम तर्पण-जलांजलि मुझसे पहले क्यों पीते हो? जैसा कि वेणीसंहार के छठे अंक में प्रतिपादित भी किया गया है-

मया पीतं पीतं तदनु भवताम्बास्तनयुगं
मदुच्छिष्टैर्वृत्तिं जनयसि रसैर्वत्सलतया।
वितानेष्वप्येवं तव मम च सोमे विधिरभू-
न्निवापाम्भः पूर्वं पिबसि कथमेवं त्वमधुना।।[15]

शोक प्राप्ति के अवसर जब द्रौपदी महाराज युधिष्ठिर के पास जाकर पूछती है कि महाराज किसको जलांजलि दू तब युधिष्ठिर कहते हैं कि हे द्रौपदी तू उस ही भीम को जल दे जो भीम गान्धारी के साथ माँ कुन्ती को भी रुलाकर स्वर्ग को चला गया। भीम ने गान्धारी के सौ पुत्रों को मारकर उसे रुलाया था जैसा कि उल्लेख भी प्राप्त होता है-

तस्मै देहि जलं—कृष्णे सहसा गच्छते दिवम्।
अम्बापि येन गान्धार्या रुदितेन सखी—कृता।।[16]
असमाप्तप्रतिज्ञेऽपि याते त्वयि महाभुजे।
मुक्तकेश्यैव दत्तस्ते प्रियया सलिलांजलिः।।[17]

वेणीसंहार के पंचम अंक में एक स्थल पर दुर्योधन शोकाकुल अपनी माता को समझाते हुए कहता है कि तुम ऐसी दीनता पूर्ण बात क्यों कहती हो? तुम तो वीरांगना हो तुम अपने सौ मृत पुत्रों की चिन्ता न करके मुझ अयोग्य की चिन्ता कर रही हो जैसा कि प्रतिपादित भी किया गया है-

मातः किमप्यसदृशं कृपणं वचस्ते
सुक्षत्रिया क्व भवती क्व च दीनतैषा।
निर्वत्सले सुतशतस्य विपत्तिमेतां
त्वं नानुचिन्तयसि रक्षसि मामयोग्यम्।।[18]

इस प्रकार संक्षेपतः कहा जा सकता है कि वेणीसंहार नाटक के विभिन्न स्थलों पर विविध रसों शृंगार, वीभत्स एवं करुण आदि रसों की अभिव्यक्ति हुई है, ये सभी अंग रूप में प्रयुक्त हुए किन्तु इस नाटक का अंगी रस वीर रस ही है; अनेक स्थलों पर भीम एवं दुर्योधन की उक्तियों में वीर रस की ही पूर्णतः अभिव्यक्ति हुई है।

संदर्भ -

1. *ऋग्वेद 9/63/13*
2. *तैत्तिरीय उपनिषद 11/7/1*
3. *नाट्यशास्त्र अध्याय 6*
4. *वेणीसंहार 1/15*
5. *वही, 1/21*
6. *वही, 5/30*
7. *वही, 2/27*
8. *वही, 4/1*
9. *वही, 5/27*
10. *वही, 2/18*
11. *वही, 2/21*
12. *वही, 2/23*
13. *वही, 2/9*
14. *वही, 2/16*
15. *वही, 6/31*
16. *वही, 6/32*
17. *वही, 6/33*
18. *वही, 5/3*

23

वेणीसंहार में अद्भुत रस

बाबूलाल मीना

वेणीसंहार का प्रधान रस वीर है, कुछ विद्वान् इसमें रौद्र रस को प्रधान मानते हैं। फिर भी भट्टनारायण इस नाटक में वीर रसानुकूल परिवेश की सृष्टि में पूर्णतया सफल हुए हैं। तथापि इनके अतिरिक्त करुण, बीभत्स, अद्भुत आदि रसों का भी यथास्थान सफल चित्रण हुआ है। इसमें अलौकिक तत्त्वों या दिव्य पदार्थों का सीमित प्रयोग हुआ है। कृष्ण के विश्व रूप के प्रसंग में विस्मय परिपुष्ट रतिभाव की सफल अभिव्यक्ति हुई है। षष्ठ अंक में निर्वहण सन्धि में दैवी अभिनन्दन, या आकाशस्थ सिद्धों के आशीर्वाद, व्यास, वाल्मीकि व रामादि की उपस्थिति की योजना का कथावस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं होने पर भी नाट्यशास्त्रीय निर्देशानुसार निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस की निष्पत्ति आरोपित व कृत्रिम सी प्रतीत होती हुई भी सफलतापूर्वक हुई है।

वेणीसंहार में अद्भुत रस के स्थल प्रधानतः संक्षेप में इस प्रकार हैं- प्रथम अंक के प्रारम्भ में नान्दी पाठ में वर्णित भगवान् शंकर के स्वरूप से सभी दर्शक एवं पाठक विस्मित होते हैं।[1] नान्दी पाठ के पश्चात् प्रस्तावना में सम्पूर्ण संसार की सृष्टि, पालन तथा संहार करने में समर्थ भगवान् कृष्ण के स्वयं शान्ति निमित्त दूत बनकर कौरव सभा में जाने पर सूत्रधार आश्चर्यचकित होता है-(आकर्ण्य सानन्दम्) अहो नु खलु भोः, भगवता सकलजगत्प्रभवस्थितिनिरोधप्रभविष्णुना विष्णुनाद्यानुगृहीतमिदं भरतकुलं सकलं राजचक्रमनयोः कुरुपाण्डवराजपुत्रयो-राहवकल्पान्तानलप्रशमहेतुना स्वयं सन्धिकारिणा कंसारिणा दूतेन। तभी नेपथ्य से तिरस्कार पूर्ण स्वर में भीमसेन के वचन को सुनकर सूत्रधार विस्मित हुए कहता है- **अये, कथमयं वासुदेवगमनात्कुरुसन्धानममृष्यमाणः पृथुललाटतटघटितविकटभृकुटिना दृष्टि-**

पातेन पिबन्निव नः सर्वान्सहदेवेनानुगम्यमानः क्रुद्धो भीमसेन इत एवाभिवर्तते। तन्न युक्तमस्य पुरतः स्थातुम्। तदित आवामन्यत्र गच्छावः। सहदेव से जब भीमसेन कौरवों के साथ पाँच ग्रामों के बदले में ही सन्धि कार्य की बात सुनते हैं, तो वे अजातशत्रु युधिष्ठिर पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं-(कर्णौ पिधाय) अहह, देवस्याजातशत्रोरप्ययमीदृशस्तेजोऽपकर्ष इति यत्सत्यं कम्पितमिव मे हृदयम्। इसी बीच अश्रुपूरित नेत्रों वाली आती हुई द्रौपदी को देखकर भीमसेन के क्रोध के बढ़ने की आशंका से सहदेव विस्मित होता है-अये! **कथं याज्ञसेनी मुहुरुपचीयमान-वाष्पपटलस्थिगितनयना आर्यसमीपमुपसर्पति। तत्कष्टतरमापतितम्।** द्रौपदी के वचनों और उसके पूर्व में किये गये कौरवों के द्वारा उसके अपमान को सुनकर भीमसेन क्रुद्ध हो जाता है और भीमसेन के द्वारा युद्ध के संकल्प का सहदेव समर्थन करता है, तभी नेपथ्य से भीषण नगाड़े का कोलाहल सुनायी पड़ता है। सभी लोग आश्चर्यपूर्वक सुनते हैं। कंचुकी के माध्यम से भीमसेन को ज्ञात होता है कि सन्धि प्रक्रिया सम्पन्न नहीं हुई है। दुर्योधन ने महात्मा श्रीकृष्ण को बन्दी बनाने का प्रयास किया, परन्तु वह विफल रहा। इस पर सभी विस्मयान्वित होते हैं। तभी भीमसेन कहता है- भीमसेनः - वत्स, मूढः खल्वयं दुरात्मा कथं जानातु! पश्य-

आत्मारामो विहतरतयो निर्विकल्पे समाधौ ज्ञानोत्सेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात् तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम्।[2]

यहाँ पर सिंह गर्जन की प्रतिध्वनि के मित्र जैसे नगाड़े के पीटने से और दुर्योधन के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के अकस्मात् और अप्रत्याशित रूप से बन्दी बनाये जाने का प्रयास करने, तत्फलस्वरूप उनके द्वारा स्वविराट् रूप प्रदर्शन करने और भीमसेन के द्वारा भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के परमात्म स्वरूप का अद्भुत वर्णन करने से विस्मय स्थायीभाव की परिपुष्टिपूर्वक अद्भुत रस की स्फुट और सफल अभिव्यक्ति हुई है। इस नगाड़े के पीटे जाने पर द्रौपदी सुनकर विस्मित हुई भीमसेन से पूछती है- नाथ, किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तानितमांसलोद्घोषः क्षणे-क्षणे समरदुन्दु-भिस्ताड्यते। अर्थात् हे नाथ! प्रलयकालीन मेघगर्जन के सदृश गम्भीर यह युद्ध का नगाड़ा (रणभेरी) क्षण-क्षण (बार-बार) में क्यों बजाया जा रहा है। यहाँ भी युद्ध के नगाड़े की अलौकिक ध्वनि को सुनने से द्रौपदी के हृदय में अद्भुत रसावेश पाया जाता है। इसकी व्यंजना द्रौपदी के उक्त वाक्य में दिखाई देती है, अतः परिभावना नामक मुखसन्ध्यंग है। आचार्य भरत मुनि कहते हैं कि

कौतूहल के उपरान्त या अतिशय जिज्ञासा से मिश्रित आवेशपूर्ण वचन विन्यास को 'परिभावना' कहते हैं- कौतूहलोत्तरावेगो भवेत्तु परिभावना[3]। दशरूपककार ने भी कहा है कि 'परिभावोऽद्भुतावेशः[4] अर्थात् अद्भुत का आवेश ही 'परिभाव' कहलाता है। वे 'परिभावना' के स्थान पर 'परिभाव' शब्द का प्रयोग करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आश्चर्यजनक वस्तु को देखकर या शब्द को सुनकर जब पात्र के कथन में अद्भुत भाव का प्रभाव परिलक्षित हो, तब परिभाव (परिभावना) नामक मुखसन्ध्यंग होता है। इसमें प्रथम तो अलौकिक वस्तु को देखने का कौतूहल होता है और पश्चात् उसे देखकर आश्चर्य (विस्मय)। इस प्रकार यहाँ रणभेरी का निनाद द्रौपदी के कर्णेन्द्रियों को अत्यन्त मधुर एवं आह्लादित करता हुआ उसमें अद्भुत रस का संचार करता है।

भानुमती एक नकुल द्वारा स्वप्न में सौ सर्पों के वध कर दिये जाने पर विस्मित होती है। दुर्योधन रानी भानुमती द्वारा सुनाये जा रहे नकुलविषयक अर्द्धस्वप्न को सुनकर ही भानुमती के भी नकुल पर आसक्त होने पर विस्मित होता है-अहो, एतदर्थमेवास्याः प्रातरेव विविक्तस्थानाभिलाषः सखीजनसंकथासु च पक्षपातः। दुर्योधनस्तु मोहादविज्ञातबन्धकीहृदयसारः क्वापि परिभ्रान्तः। --- (आत्मगतम्) अहो, कुलटोचितमस्याः पापाया अशालीनत्वम्। वास्तविकता ज्ञात होने पर स्वप्न में नेवले को दर्शन का अपशकुन मानता हुआ दुर्योधन अपनी बायीं आँख के फड़कने पर आश्चर्य करता है-(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा) आः ममापि नाम दुर्योधनस्यानिमित्तानि हृदयक्षोभमावेदयन्ति। तत्पश्चात् दुर्योधन के भानुमती के साथ प्रेमालाप प्रसंग में ही अभिमन्यु वध की पीड़ा से अर्जुन को मारने की घोर प्रतिज्ञा करने पर तत्फलस्वरूप आये भीषण झंझावत से दुर्योधन के रथ की पताका के टूटकर पृथ्वी पर गिर जाने से कंचुकी और द्रौपदी अत्यन्त आश्चर्यचकित होते हैं और फलतः इसे अपशकुन मानते हुए दुःख का अनुभव भी करते हैं। कंचुकी- देव! न खलु कश्चिद्व्यामोहः। सत्यमेव ब्रवीमि।-

भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम्।
पतितं किंकिणीक्वाण-बद्धाक्रन्दमिव क्षितौ।।[5]

तृतीय अंक के प्रवेशक की समाप्ति पर तलवार हाथ में उठाये और अभूतपूर्व कोलाहल (शब्द) को सुनकर अश्वत्थामा भी विस्मित होता है।[6] इसी बीच

वह भी पिता द्रोणाचार्य के पराक्रम को देखने के लिए व्यग्र होता है। अचानक बायीं नेत्र के फड़कने को अपशकुन मानता हुआ स्वयं के विषय में विस्मित होता है- **अये, ममापि नामाश्वत्थाम्नः समरमहोत्सवप्रमोदनिर्भरस्य तातविक्रमदर्शनलालसस्या-निमित्तानि समरगमनविघ्नमुत्पादयन्ति।** तभी घबराये हुए सूत के बचाओ, बचाओ कहकर अचानक अश्वत्थामा के पैरों पर गिर जाने पर अश्वत्थामा विस्मित हुआ कहता है- (विलोक्य) अये, कथं तातस्य सारथिरश्वसेनः। आर्य, ननु त्रैलोक्यत्रण-क्षमस्य सारथिरसि। किं मत्तः परित्राणमिच्छसि।

चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में प्रहार से मूर्च्छित, रथ में पड़े हुए दुर्योधन को युद्धक्षेत्र से दूर ले जाता हुआ सारथी प्रवेश करता है। तभी भीमसेन अभी पिये हुए दुःशासन के रक्त की बात कहता हुआ युद्धभूमि में घूमता है। तभी दुर्योधन की चेतना नहीं लौटने से उनके रथ को भीमसेन के दुर्व्यवहार की आशंका से दूर ले जाता है। तभी समीप में स्थित वटवृक्ष को देखकर विस्मित एवं प्रसन्न हुआ कहता है कि- (त्वरितं परिक्रम्यावलोक्य च) अये! अयमसौ सरसीसरोजविलोनन- सुरभि-शीतलमातरिश्वसंवाहितसान्द्रकिसलयो न्यग्रोध पादपः। पुनः वहाँ किसी भी सेवक के उपस्थित नहीं होने पर आश्चर्य करता है - कः कोऽत्र भोः .... कष्टं भोः कष्टम्।

तभी दुर्योधन भी अकस्मात् एवं अप्रत्याशित उसे देखकर विस्मित होता है- (विलोक्य) अये, सुन्दरक, कच्चितकुशलमंगराजस्य। तत्पश्चात् सुन्दरक भीषण युद्ध के समाचार कहता है और कर्ण एवं भीमसेन के भयंकर युद्ध की चर्चा करता है। यहाँ सुन्दरक द्वारा किये गये युद्धवर्णन के प्रसंग में नाटककार भट्टनारायण ने अद्भुत रस की योजना की है। यहाँ चतुर्थ अंक में अद्भुत रस का अद्भुत संचार दर्शनीय बन पड़ा है। अद्भुत रस की धारा स्फुट रूप से प्रवाहित हुई है। युद्ध का वर्णन करते हुए सुन्दरक कहता है कि भीमसेन को बचाने के लिए अर्जुन आ जाता है। फिर कर्ण को भीमसेन तथा अर्जुन द्वारा आक्रान्त देखकर अपने पिता कर्ण की रक्षार्थ कुमार वृषसेन आ जाता है। कुमार वृषसेन ने बालयोद्धा होने पर भी अर्जुन के श्रेष्ठ रथ को अपने कंक पत्र वाले बाणों से उसी प्रकार ढंक दिया, जिस प्रकार पुष्पित वृक्ष को भौंरे ढंक लेते है- **तेनागच्छतैव कुमारवृषसेनेन विदलितासिला-श्यामलस्निग्धपुंखैः कठिनकंकपत्रौः कृष्णवर्णैः शालशिलानिशितश्यामलशल्यबन्धैः कुसुमित इव तरुर्मुहूर्त्तेन शिलीमुखैः प्रच्छगदितो धनंजयस्य रथवरः।** तत्पश्चात् अर्जुन

ने भी वज्रपात की तरह भयंकर शब्द करते हुए इस तरह से बाण-वर्षा की, कि बाण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता था - **ततो निशितशरा-भिघातवेदनोपजातमन्युना किरीटिना चण्डगाण्डीव जीवशब्दनिर्जितवज्रनिर्घातघोषेण बाणनिपतनप्रतिषिद्धदर्शनप्रसरेण प्रस्तुतं शिक्षा वलयानुरूपं किमप्याश्चर्यम्।** सुन्दरक कहता है कि तभी वृषसेन ने भी विशिष्ट युद्ध-कर्म प्रस्तुत किया, जिसे देखकर सभी कौरव-पाण्डव वीर योद्धा विस्मित होकर अपने वैरभाव को छोड़कर वृषसेन वाह-वाह ऐसा कहते हुए वृषसेन और अर्जुन के युद्ध को देखने लग गये। यह सुनकर दुर्योधन भी वृषसेन की युद्धनिपुणता से विस्मित होता है- (सविस्मयम्) ततस्ततः। ... (सविस्मयम्) अहो, बालस्य पराक्रमो मुग्धस्वभावोऽपि। ततस्ततः। अर्जुन की युद्धकुशलता को देखकर वृषसेन ने बड़ी निपुणता से अद्भुत युद्ध व्यापार प्रस्तुत किया। अर्जुन के द्वारा छोड़ी गयी प्रज्वलित शक्ति के उत्तर में वृषसेन ने भी कान तक खींचकर तेज धार वाले क्षुरप्र नामक बाणों से उस शक्ति को आधे मार्ग में ही इस तरह से तीन टुकड़े कर दिये, जिस प्रकार स्वर्ग से आती हुई गंगा को विषम नेत्र वाले भगवान् शंकर ने तीन भागों में (त्रिपथगा) विभक्त कर दिया- तो देव, कुमारवृषसेनेनाकर्णपूरितै- र्निशितक्षुर- प्रबाणैश्चिरं निर्धायार्धपथ एव भागीरथीवागच्छन्ती यथा भगवता विषमलोचनेन तथा त्रिधा कृता शक्तिः। इस प्रकार दोनों धनुर्धरों के युद्ध के अद्भुत पराक्रम को देखकर न केवल सैनिक, अपितु भीमसेन, कर्ण आदि भी आश्चर्यचकित होते हैं। सुन्दरक के मुख से युद्ध के वर्णनमात्र को सुनकर दुर्योधन भी वृषसेन जैसे बालयोद्धा के साहस पर आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह पाता है।

इस प्रकार अर्जुन और कर्णपुत्र वृषसेन के परस्पर युद्ध का नाटककार भट्टनारायण ने ऐसा अद्भुत चरित्रांकन किया है कि यहाँ अद्भुत रस स्वयं प्रसूत हो गया है। अर्जुन और वृषसेन के अपरिमेय रणकौशल से ही अद्भुत रस अद्भुत हुआ है। यद्यपि वेणीसंहार नाटक का चतुर्थ अंक नीरस सा है परन्तु चित्रांकन एवं रस-परिपाक की दृष्टि से ऐसे वर्णन उच्चकोटि के हैं तथापि विस्तृत वर्णन शैली नाटकीय व्यापार की गत्यात्मकता को शिथिल कर ही देती है। इस प्रकार यहाँ नाटककार ने नाटक के अंगीरस वीर की पोषकता के लिए अद्भुत रसाभिव्यंजना का निर्वाह अत्यन्त कुशलता से किया है।

पंचम अंक में पुत्रों के विनाश से व्याकुल हुए धृतराष्ट्र एवं गान्धारी दुर्योधन को पाण्डवों से सन्धि कर लेने के लिए समझाते हैं, परन्तु दुर्योधन इसके लिए तैयार नहीं होता। षष्ठ अंक में इधर युधिष्ठिर भगवान् कृष्ण के द्वारा पांचालक के माध्यम से प्रेषित सन्देश को सुनकर राज्याभिषेक और द्रौपदी के भी वेणीसंहार के उत्सव की तैयारी करने लगते हैं, तभी नेपथ्य से मैं प्यासा हूँ, प्यासा हूँ। कोई जल और छाया प्रदान करके मुझे सन्तुष्ट करे- ऐसी आवाज को सुनकर युधिष्ठिर विस्मित होते हैं- (आकर्ण्य) कः कोऽत्र भोः। दुर्योधन के मित्र चार्वाक नामक राक्षस के मुनि का छद्मवेष धारण कर युधिष्ठिर के पास जाकर इस तरह प्रवेश करने पर, फिर समन्तपंचक में युद्धभूमि के समाचार पूछे जाने पर वह अर्जुन और दुर्योधन के गदायुद्ध की बात करता है, जिसे सुनकर युधिष्ठिर और द्रौपदी इत्यादि विस्मित होते हैं......मुनिजनसुलभेन कौतूहलेन तत्रभवता..... गदायुद्ध-मर्जुनसुयोधनयोरागतोऽस्मि (सर्वे विषादं नाटयन्ति)..... युधिष्ठिरः - कथय किमर्जुनसुयोधनयोरिति। चार्वाक कहता है कि गदायुद्ध में भीम मारा गया, फिर अर्जुन ने दुर्योधन से गदायुद्ध प्रारम्भ किया, जिसे सुनकर युधिष्ठिर अर्जुन पर आश्चर्य करता है।[7] और भीमसेन की मृत्यु के समाचार से द्रौपदी एवं युधिष्ठिर शोकाकुल होकर आत्मदाह करने को तत्पर हो जाते हैं। चार्वाक चुपके से चिता तैयार कर उसे प्रज्वलित करने के लिए वहाँ से चला जाता है। युधिष्ठिर की काष्ठसंग्रह करने की बात को कोई सेवक नहीं सुनता है, तो वे विपत्ति में सेवकों की अकार्यता पर विस्मयान्वित होते हैं - कृष्णे, न कश्चिदस्मद्वचनं करोति। भवतु। स्वयमेवाहं दारुसंचयं कृत्वा चितामादीपयामि। द्रौपदी अपनी दासी बुद्धिमतिका के माध्यम से गर्भवती उत्तरा को अपने गर्भ का भली-भाँति पालन करने को कहती है, ताकि वही यहाँ से परलोक गये श्वसुर कुल को तथा हम लोगों को जलबिन्दु देने वाला हो जाय। ऐसा सुनकर युधिष्ठिर विस्मित होता है कि द्रौपदी एक सूक्ष्म अंकुर से कितनी आशावती हो रही है।[8] तभी नेपथ्य में कोलाहल होता है और कंचुकी भ्रम से युधिष्ठिर से कहते हैं कि यह दुष्ट कौरव रक्त से लिप्त भयंकर गदा लिए हुए पांचाली को ढूंढते हुए इसी ओर आ रहा है, तब तुरन्त ही युधिष्ठिर भी हाथ में गदा धारण किये और रक्त से लिप्त हुए सभी अंगों वाले भीमसेन को दुर्योधन समझकर धनुष लाने की बात कहता है। तभी भीमसेन सर्वत्र हुई घबराहट पर आश्चर्य करता है।[9] चार्वाक राक्षस द्वारा पूर्व में चलाये गये प्रपंच के प्रसंगानुसार युधिष्ठिर भीमसेन

को दुर्योधन समझकर उससे बाहु-युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। भीमसेन के द्वारा द्रौपदी के समीप जाने पर वह दूर हट जाती है और भयभीत होती है। तभी कंचुकी भीम को पहचान कर सन्देह का निवारण करते हैं और कहते हैं कि महाराज! आपको बधाई है। ये चिरंजीवी भीमसेन ही हैं, जो दुर्योधन के रक्त से लाल किए गये शरीर के वस्त्रों से पहचान में नहीं आ रहे हैं। अब सन्देह करना व्यर्थ है। चेटी द्रौपदी से भीमसेन के द्वारा प्रतिज्ञा पूरी करने तथा आपको ढूँढकर वेणीसंहार करने की बात कहती है परन्तु द्रौपदी इसे व्यर्थ सान्त्वना मानती है। युधिष्ठिर जयन्धर से विश्वस्त होकर और भीमसेन से सारा वृत्तान्त सुनकर विस्मित और प्रसन्न होते हैं। फलतः इस अप्रत्याशित घटना से सभी विस्मित होते हैं। यहाँ वेणीसंहार के षष्ठ अंक में रुधिरलिप्तांग भीमसेन को कंचुकी के द्वारा पहचान लिये जाने के बाद से नाटक के अन्त तक निर्वहण सन्धि है।

(भीमसेन द्रौपदी के पास आकर) उसकी वेणी बाँधते हैं। नेपथ्ये से ध्वनि आती है कि - (नेपथ्ये) महासमरानलदग्धशेषाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय। क्रोधान्धैर्यस्य.... राज्ञां कुलेभ्यः।[10] अर्थात् विशाल युद्ध रूपी अग्नि में जलने से बचे हुए राजकुल का कल्याण हो। जिसके खुलने से क्रोधोन्मत्त पाण्डवों एवं कौरव राजाओं द्वारा प्रत्येक दिशा में प्रतिदिन राजाओं के रनिवास खुले केशों वाले कर दिये गये, वही यह क्रुद्ध यमराज के मित्र के समान तथा कौरवों के लिए धूमकेतु के समान कृष्णा का केशपाश बाँधा गया है। अब प्रजाजनों का मरण रुक जाये तथा राजाओं के समूहों या वंशों का कल्याण हो।

इस पर युधिष्ठिर कहते हैं कि- देवि, एष ते मूर्द्धजानां वेणीसंहारोऽ-भिनन्द्यते नभस्तलसंचारिणा सिद्धजनेन। अर्थात् देवी! आकाश-तल में विचरण करने वाले सिद्धों के द्वारा आपके केशकलापों के संहार (बाँधे जाने या सँवारने या वेणी के रूप में सँवारे जाने) का अभिनन्दन किया जा रहा है। इस प्रकार यहाँ अद्भुत वस्तु की प्राप्ति का वर्णन है, इसलिए यहाँ उपगूहन नामक निर्वहण सन्ध्यंग है। वस्तुतः अद्भुत अर्थ की प्राप्ति ही उपगूहन है - कार्यदृष्ट्यद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने [11]। वस्तुतः नायक आदि को अद्भुत वस्तु की प्राप्ति उपगूहन कहलाती है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र तो 'उपगूहन' शब्द के स्थान पर 'परिगूहन' शब्द का प्रयोग करते हुए लिखते हैं कि -

विस्मयस्थायिभावात्मकस्याद्भुतस्य प्राप्तिः परिगूहनम्।[12]

अतः यहाँ सिद्धों द्वारा किये गये अभिनन्दन को पाण्डव अलौकिक वस्तु के रूप में पाते हैं, अतः निर्वहण सन्धि के उपगूहन नामक अंग में अद्भुत रसाभिव्यंजना पूर्णतया औचित्यपूर्ण है। भीमसेन द्वारा द्रौपदी के वेणीसंहार के तुरन्त बाद भगवान् कृष्ण और अर्जुन युधिष्ठिरादि के समीप आते हैं। युधिष्ठिर भगवान् के स्वरूप का चिन्तन कर आनन्दित होता है।[13] युधिष्ठिर चार्वाक द्वारा प्रताड़ित एवं धोखा दिये जाने पर आश्चर्य करते हैं-कथं चार्वाकेण रक्षसा वयमेवं विप्रलब्धाः। भगवान् व्यास, वाल्मीकि, परशुराम आदि ऋषियों तथा धृष्टद्युम्न सेनापति आदि के राज्याभिषेक के तीर्थ घटों को लेकर आने पर सभी आनन्दित होते हैं। इस प्रकार यहाँ हर्षज अद्भुत रस की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार वेणीसंहार नाटक में अद्भुत रस का निर्वाह अत्यल्प होते हुए भी पूर्ण परिपाक को प्राप्त होता है। नाटककार का मुख्य लक्ष्य वीर रस का पूर्ण परिपाक करना ही है तथापि जितने भी अंश में अद्भुत रस का आस्वादन होता है वह अपने आप में प्रशंसनीय और रोचक है। इस रूपक में वर्णित अद्भुत रस का विस्मयकारी चित्रण सहृदय सामाजिकों को विस्मय या आश्चर्यचकित करने में पूर्णतया सक्षम है। अतः वीर रस के साथ अद्भुत रस का परिपाक सहृदयों के लिए आनन्द निकेतन के समान है।

सन्दर्भ -

1. वेणीसंहारम् , 1/3
2. वहीं
3. ना.शा., 16/73
4. दशरूपकम्, 1/29 कारिका का उत्तरार्द्ध
5. वेणीसंहारम् , 2/24
6. वहीं, 3/4
7. वहीं, 6/21
8. वहीं, 6/26
9. वहीं, 6/37
10. वहीं, 6/42
11. दशरूपकम्, 1/53 कारिका का उत्तरार्द्ध
12. ना.शा., 1/164
13. वेणीसंहारम्, 6/43

24

वेणीसंहार में अलंकार योजना

लक्ष्मी नारायण

वेणीसंहार नाटक में कवि भट्टनारायण ने अंलकारों का बहुत ही सुन्दर प्रयोग किया है। साहित्य दर्पण में आचार्य विश्वनाथ अलंकारों का निरूपण करते हुए कहते हैं-

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽगंदादिवत् ।।[1]

अर्थात् अलंकार शब्द और अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को कहा जाता है जो मानव शरीर की शोभा को बढ़ाने वाले बाजूबन्द आदि अलंकारों की भांति काव्य के शरीर भूत शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाया करते हैं और अन्ततोगत्वा काव्य के आत्मभूत रस के अभिव्यञ्जन में भी सहायक हुआ करते हैं।

आचार्य भामह अलंकारों की महत्ता का उदघोष करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार आभूषणों के बिना वनिता का मुख सुशोभित नहीं होता उसी प्रकार अलंकारों के अभाव में काव्य भी शोभन नहीं हो सकता ''न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्''[2] दण्डी ने अलंकारों को काव्य के शोभाकारक धर्म माना है तथा आचार्य मम्मट अलंकारों को काव्य के आत्मभूत तत्त्व रस के उपकारक मानकर इनकी स्थिति नायिका के शरीर पर विराजमान हारादि लौकिक अलंकारों की भांति स्वीकार की है ये काव्य में विद्यमान अंगी रस को उपकृत करते हैं उसका उत्कर्षाधान करते हैं उन्होने काव्य में अलंकारों की उपयोगिता की दृष्टि से अत्यन्त सन्तुलित धारणा सुनिश्चित की है।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽंगद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।[3]

इस प्रकार यह सिद्व होता है कि काव्य की शोभा में वृद्धि करने वाले तथा कवि के कवित्व को उत्कृष्टता प्रदान करने वाले तत्त्व अलंकार कहलाते है।

वेणीसंहार में भी महाकवि भट्टनारायण ने उसी प्रकार से नाट्य ग्रन्थ को उत्कृष्टता प्रदान करने के लिए लगभग 25 अलंकारों का प्रयोग किया है। जिसमें उपमा, रूपक और काव्यालिंग व उत्प्रेक्षा उनके सर्वप्रिय अलंकार प्रतीत होते हैं।

युद्धक्षेत्र का रूपक अलंकार के माध्यम से कितना सुन्दर चित्रण किया है-

भीम कहता है कि

चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः,
संग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता।
कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं,
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं यशोदुन्दुभिः।।[4]

हम भीमादि चार लोग ऋत्विज तथा भगवान कृष्ण कर्मोपदेष्टा हैं। स्वयं धर्मराज युधिष्ठिर संग्राम रूपी यज्ञ को करने का संकल्प किये हुए हैं इनकी पत्नी द्रोपदी ने यज्ञ का व्रत ग्रहण कर रखा है कुरूवंशी दुर्योधन यज्ञ में बलिदान किये जाने वाले पशुओं के समान है, प्रियतमा के पराभव रुपी दुःख का शान्त होना ही इस रणयज्ञ का फल है और यह कीर्तिदुन्दुभि राजाओं को निमन्त्रित करने के लिए गम्भीर रूप से बजाया जा रहा है।

वेणीसंहार में वीर रस की प्रधानता होने के कारण नाटकीय दृष्टि से विभिन्न स्थानों पर अलंकारों का प्रयोग प्रभावोत्पादक तथा अंगीरस का उत्कर्षवर्धक बन गया है। इसके अनेक श्लोकों को विभिन्न जगहों पर धनंजय द्वारा दशरूपक में उदाहरण स्वरुप प्रयोग किया गया है जो कि इसके विशेष महत्त्व को प्रतिपादित करता है।

उपमालंकार के बाद कवि का सर्वप्रिय अलंकार रूपक ही है प्रत्येक अंक में इस अलंकार का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। शब्दार्थ रूपी शरीर वाले काव्य में अलंकारों की अलंकारिता उसके वाच्यवाचक रूप अंगों की शोभावर्धकता के ही कारण है अर्थ की शोभावर्धकता में वृद्धि करने वाले अंगों में अर्थालंकार के अन्तर्गत परिगणित सर्वप्रमुख अलंकार उपमा है। यह अलंकार भट्टनारायण का भी प्रिय अलंकार कहा जा सकता है क्योंकि उन्होनें अपनी कृति वेणीसंहार के

प्रत्येक अंक में इसका प्रयोग अवश्य रूप से किया है। साधारण शब्दों द्वारा अर्थ की चारूता में वृद्धिकर पाना उपमालंकार से ही सम्भव है। प्रथम अंक में जब द्रौपदी के खुले हुए केश देखकर भीम क्रोधित होता है तो स्वंय द्रोपदी कुछ न बतलाकर चेटी द्वारा अपनी बात बताती है उस पर भीम को माध्यम मान कर कवि ने वीर रस पूर्ण शब्दार्थ में उपमा का प्रयोग बड़े ही चातुर्य से किया है।

कौरव्यवंशदावेऽस्मिन्क एष शलभायते
मुक्तवेणीं स्पृशन्नेनां कृष्णां धूमशिखामिव।।[5]

श्लेष अंलकार का भी प्रयोग नाटककार के द्वारा किया गया है काव्यलिंग सम्पूर्ण नाटक में लगभग 13 बार प्रयुक्त है।

धृतराष्ट्रस्य तनयान्कृतवैरान् पदे पदे।।
राजा न चेन्निषेद्धा स्यात्कः क्षमेत तवानुजः।।[6]

उसी प्रकार सूत्रधार के द्वारा शरद ऋतु की सुन्दरछटा को श्लेष के माध्यम से प्रकट किया गया है-

सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीप्रष्ठे।।[7]

मंगलाचरण मे ही ''करैरिन्दोरन्तश्छुरित इव सभिन्नमुकुलः''[8] उत्पेक्षा अलंकार का प्रयोग करके नाटककार ने मानो अपनी सहृदयता का प्रारम्भ सा कर दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह रूपक अंलकारों के समुचित प्रयोग द्वारा काव्य की आत्मा अर्थात् रस को उन्मीलित करने में सर्वथा समर्थ है नाटक में अलंकारों का प्रयोग कही भी निरर्थक प्रतीत नही हो रहा है इसमें वीर रस की ओजस्विता एवं तेजस्विता कूट कूट कर भरी है समास बहुला शैली होने से उसी के अनुकूल छन्द तथा छन्दों के अनुकूल अलंकारों का प्रयोग चित्त को प्रज्वलित करने की क्षमता रखता है युद्ध के अनुकूल विकट वर्णों का प्रयोग तथा उसी के अनुरूप अलंकारों का विन्यास एवं दार्शनिक योग्यता को प्रकट करना वेणीसंहार में शब्दार्थ सौन्दर्य के पर्याप्त परिचायक है।

इस नाटक में घटनाओं का आधिक्य होने के कारण कवि कथानक को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करने में पूर्णतः सफल नही हो सके हैं फिर भी पद्यों के

बाहुल्य तथा वर्णनात्मक प्रसंगों की प्रचुरता से प्रायः जो नाटकीय गति अवरुद्ध सी हो गयी थी उसे अलंकारों के सुमधुर प्रयोग से रुचिकर बना दिया है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि महाकवि भट्टनारायण ने वीररस प्रधान अपने इस नाट्यकाव्य में चारुत्व के उत्कर्ष में वृद्धि करने वाले आत्मतत्त्व के पोषक अलंकारों का बहुत ही उत्कृष्ट अवस्था में प्रयोग किया है।

संदर्भ -

1. *साहित्यदर्पण, 10/1*
2. *काव्यालंकार, 1/13*
3. *काव्यप्रकाश, 8/2*
4. *वेणीसंहार, 1/25*
5. *वही 1/19*
6. *वही 1/09*
7. *वही 1/06*
8. *वही 1/01*

25

वेणीसंहार में छन्द प्रयोग

चंद्रपाल लोधी

पद्य में छन्द के मिश्रण होने से इनके गायन में सहजता और सरलता आती है, जिससे गायक और श्रोता के बीच अच्छा सामंजस्य बना रहता है। चूंकि प्राचीन समय में लेखन सामग्री का विकास नहीं हुआ था तो श्लोक आदि याद रखने के लिए छन्द रचना उचित थी ''छन्दस्'' छद् धातु से असुन् प्रत्यय = व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है अच्छादित करने वाला या स्तुति का साधन। कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में छन्द का लक्षण इस प्रकार दिया है, ''यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः''[1]।

निरूक्त में ''छन्दासि छादनात्'' अर्थात् आच्छादन और नियमन के कारण इसे छन्द कहा गया है। आचार्य पाणिनी ने वेद को एक पुरुष की संज्ञा दी और छन्द आदि को वेदांग की ।

छन्दःपादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरूक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।[2]

जिस प्रकार बिना पैरों वाला व्यक्ति चल फिर नहीं सकता अर्थात् अपना विकास करने में असमर्थ होता है ठीक उसी प्रकार छन्द के बिना भी काव्य की गति बाधित होती है। छन्द शास्त्र के सूत्र महर्षि पिंगल ने लिखे। इसी कारण से छन्द शास्त्र को पिंगल शास्त्र भी कहते हैं। पिंगल सूत्रों की 'यादवप्रकाश' नामक टीका में प्राप्त एक श्लोक से छन्द शास्त्र के प्राचीन विकास क्रम का परिचय मिलता हैं। इस विवरण के अनुसार छन्दः शास्त्र भगवान् शंकर से देवराज इन्द्र को, इन्द्र से दुश्च्यवन को, दुश्च्यवन से बृहस्पति को, बृहस्पति से माण्डव्य को, माण्डव्य से सैतव को, सैतव से यास्क को और यास्क से पिंगल को प्राप्त हुआ।

छन्दोज्ञानमिदं भवाद्भगवतो लेभे सुराणां पति-
स्तस्माद् दुश्च्यवनस्ततः सुरगुरुर्माण्डव्यनामा ततः।
माण्डव्यादपि सैतवस्तत ऋषिर्यास्कस्ततः पिंगल-
स्तस्येदं यशसा गुरोर्भुवि धृतं प्राप्याऽस्मदाद्यैः कृतम्।।[3]

छन्दों का प्रयोग वैदिक काल से ही होता आ रहा है। वेदों में गायत्री, अनुष्टुप्, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, उष्णिक् और बृहती आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। लौकिक-संस्कृत साहित्य में भी भावानुमूल छन्दों का यथोचित अनुप्रयोग संस्कृत कवियों की विशिष्ट पहचान रही है। संस्कृत नाटककारों में अनुष्ठान महान् नाटककार भट्टनारायण ने अपने अद्वितीय नाट्य कृति वेणीसंहार में विविध प्रकार के छन्दों के सुन्दर प्रयोग से उसे अत्यन्त स्पृदहणीय बना दिया है।

भट्टनारायण ने वेणीसंहार में लगभग 19 छन्दों का प्रयोग किया है। मुख्य रूप से शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, स्त्रग्धरा, वसन्ततिलका, पथ्यावक्त्र, मन्दाक्रान्ता और अनुष्टुप् को स्थान दिया है, शेष छन्दों का एक दो बार ही प्रयोग किया हैं।

शिखरणी - ''शिखरं विद्यते अस्य इति शिखरी'' यह छन्द पर्वत के शिखर की भांति चमत्कृत होता है। संभवतः इसी अर्थ के कारण ही भट्ट नारायण ने पहले श्लोक में इस छन्द का प्रयोग किया हैं। यद्यपि नाटककार भवभूति को इस छन्द का विशेषज्ञ कहा जाता है। परन्तु भट्टनारायण ने भी शिखरणी छन्द का अत्यन्त मनोरम उपयोग किया है। शिखरणी छन्द का लक्षण है- रसैः रूद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरणी[4] इसमें क्रमणः यगण, मगण, नगण, सगण, भगण एक लघु तथा गुरु वर्ण होते हैं। इसका यतिक्रम 6 + 11 = 17 हैं।

निषिद्धैरप्येभिर्लुलितमकरन्दोमधुकरैः, करैरिन्दोरन्तश्छुरितइवसंभिन्नमुकुलः।
विधत्तांसिद्धिंनोनयनसुभगामस्यसदसः, प्रकीर्णपुष्पाणां हरिचरणयोरञ्जलिरयम्।।[5]

वेणीसंहार में इसका प्रयोग 12 बार हुआ है।

अंक - 1/ 1,10,11/अंक-3/ 19,22,25,38,45/अंक-6/ 5,28,31,40

शार्दूलविक्रीडित- शार्दुईलविक्रीडित का अर्थ है कि पराक्रमी शेर की क्रीड़ा अर्थात् बड़ी-बड़ी छलांग आदि लगाना। इसमें बड़े बड़े पाद होते है। इसका लक्षण हैं- सूर्याश्वैर्मसजास्तत सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्[6] इसका यतिक्रम 12 + 7 = 19 होता

हैं। जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण तथा एक गुरु वर्ण आये उसे शार्दूलविक्रीडित कहते हैं।

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सुत्यरासेरसं
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषांकंसद्विषोराधिकाम्।
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरामोद्गते-
रक्षुण्णोऽनुनयःप्रसन्नदयितादृष्टस्यपुष्णातुवः।।[7]

वेणीसंहार में इसका प्रयोग 33 बार हुआ हैं।

(अंक-1)/2,12,24,25;(अंक-2)/1,2,9,13,17,20,25;(अंक-3)/ 5,33,35,47; (अंक-4)/ 1,2,12,; (अंक-5)/ 1,5,7,9,10; (अंक-6)/1,7,12,13,16, 17,19, 27, 44, 45।

स्त्रग्धरा - स्त्रग् का अर्थ होता है माला को धारण करने वाली रमणी। जब कभी किसी भी बड़ी घटना का छोटे में प्रयोग करना हो तो इस छन्द का प्रयोग किया जाता है। इस छन्द का प्रयोग शतकों में अधिक किया जाता है। (सूर्य शतक, देवी शतक व चंडी शतक) इसका लक्षण है- म्रभ्नैर्यानां त्र्येण त्रिमुनियतियुता स्त्रग्धराकीर्तितेयम्[8] प्रत्येक चरण क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण तथा तीन यगणों से युक्त छन्द रचना स्त्रग्धरा कहलाती है। इसमें यतिक्रम 7 + 7 + 7 = 21 होता हैं।

दृष्टःसप्रेमदेव्याकिमिदमितिभयात्सभ्रम्माच्चासुरैभिः
शान्तान्तस्तत्त्वसारैःसकरूणमृषिभिविष्णुनासस्मितेन।
आकृष्यास्त्रंसगर्वैरुपशमितवधूसंभ्रमैदैंत्यवीरैः
सानन्दंदेवताभिर्मयपुरदहनेधूर्जटिःपातु एमान्।।[9]

वेणीसंहार में इसका प्रयोग 20 बार हुआ है। (अंक - 1) 3,22,27; (अंक- 2) 19,22,27 (अंक - 3) 7,32 (अंक-5) 26,29, 30,35,36,37 (अंक - 6) 2,8,37,39, 41,4

आर्या - यह एक मात्रिक छन्द है। इसके प्रथम और तृतीय पाद में 12-12 और दूसरे चारण में 18 और चतुर्थ में 15 मात्राऐं होती है। इस छन्द का प्रयोग लगभग सभी कवियो ने किया है। इसका लक्षण हैं -

यस्याःपादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थेके पंचदश साऽऽर्या।।[10]

श्रवणांजलिपुटपेयं विरचितवान्भारताख्यममृतं यः
तमहमरागमकृष्णं कृष्णद्वैपायनं वन्दे ।।[11]

इसका प्रयोग वेणीसंहार मे 6 बार हुआ है (अंक - 1) 4,5,6,20;(अंक-5) 11,18।

वसन्ततिलका - यह छन्द संस्कृत का एक दीर्घ छन्द है। यह छन्द मुख्य रूप से शब्दों की विशिष्ठता और उसके चमत्कृत अर्थ के लिए जाना जाता हैं। इसका लक्षण - उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौगः [12] वसन्ततिलका उसे कहते हैं जिसके प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण, भगण, जगण, जगण तथा दो गुरु आयें। आचार्य कश्यप इसे सिंहोन्नता तथा आचार्य सैतव उद्धर्षिणी कहते हैं।

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां, नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च, स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः।।[13]

इसका यतिक्रम 8 + 6 = 14 है। इसका प्रयोग वेणीसंहार मे 39 बार हुआ हैं। (अंक - 1) 7,8,15,21;(अंक - 2) 7,12,23,26,28; (अंक - 3) 10,12, 13,15, 21,29,30,44; (अंक-4) 5,6,8,10; (अंक-5) 2,3,13,16,17,22, 32,38,42;(अंक-6) 4,9,21, 22,23,30,34,35,38।

पथ्यावक्त्रं - युजोश्र्चतुर्थतो येन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्[14]
धृतराष्ट्रस्य तनयान्कृत वैरान् पदे पदे।
राजा न चेत्रिषेद्धा स्यात्कः क्षमेत तवानुजः।।[15]

इसका प्रयोग 28 बार हुआ है। (अंक-1) 9,13,14,16,17,18,19; (अंक-2) 14,15,24; (अंक-3) 14,17,18,26,28,31,36,37,41,42; (अंक-4) 4,11, (अंक-6) 10,11,14,29,32,33।

मन्दाक्रान्ता - मन्दं अक्रान्तगतिर्यस्या सा मन्दाक्रांता - जिस छन्द की गति गायन में मन्द हो उसे मन्दाक्रांता कहते है। इस छन्द का विशेषज्ञ कालिदास को कहा जाता हैं कालिदास का मेघदूत इसी छन्द में लिखा गया हैं। इसका लक्षण है- मन्दाऽम्बुधिरसनगैर्मोभनौतौग युग्मम्[16] जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, भगण, नगण, तगण, तगण तथा दो गुरू वर्ण आयें उसे मन्दाक्रान्ता कहते हैं।

आत्मारामाविहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोत्सेकाद्विघटिततमोग्रन्थयःसत्त्वनिष्ठाः।

यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वापरस्तात्
तं मोहान्धःकथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम्।।[17]

इसका प्रयोग वेणीसंहार में 16 बार हुआ है।

(अंक-1) 23; (अंक-2) 8,11,18; (अंक-3) 8,11,20,23; (अंक-4) 5,6,8,10; (अंक-5) 33; (अंक-6) 20,25,26।

अनुष्टुप् - इस छन्द को लौकिक साहित्य का पहला छन्द भी कह सकते हैं क्योकि महर्षि वाल्मीकि ने इस छन्द का प्रयोग किया था ''मा निषाद प्रतिष्ठां'' इस छन्द का लक्षण है -

पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः।
षष्ठं गुरु विजानीयादेतत्पद्यस्यलक्षणम्।।
पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः।
गुरु षष्ठं च जानीयात्शेषेष्वनियमोमतः।।[18]

जिस छन्द में पञ्चम अक्षर प्रत्येक चरण में लघु हो (परन्तु) सप्तम अक्षर केवल दूसरे तथा चौथे चरण में लघु हो, षष्ठ अक्षर प्रत्येक चरण में गुरु हो उसे 'पद्य' कहते हैं। पद्य को ही श्लोक या अनुष्टुप भी कहतेहैं।

भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम्।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम्।।[19]

वेणीसंहार में इसका प्रयोग 21 बार हुआ है।

(अंक - 1) 26; (अंक - 2) 3,4; (अंक - 3) 43,49; (अंक - 4) 7,14; (अंक-5) 4,6,12,15,19,20,23,24,25,28,31,34,39; (अंक - 6) 6।

मालिनी - मालिनी का अर्थ है माला धारण करने वाली रमणी । जब कभी रूप सौन्दर्य, हृदय के गम्भीर मनोभाव का वर्णन और जहां कही आकर्षण पैदा करना हो वहाँ मालिनी छन्द का प्रयोग किया जाता हैं इसका लक्षण हैं - ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोके[20] छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, नगण, मगण, यगण, तथा यगण आये उसे मालिनी कहते हैं।

विकिरधवलदीर्घापांगसंसर्पिचक्षुः- परिजनपथर्वीतन्यत्रकिंसम्भ्रमेण।
स्मितमधुरमुदारंदेवि!मामालपोच्चैः प्रभवति ममपाण्योरजंलिःसेवितुं त्वाम्।।[21]

इसका वेणीसंहार में प्रयोग 7 बार हुआ है।

(अंक-2) 16; (अंक - 3) 40; (अंक - 5) 21,27,40; (अंक - 6) 36, 43

हारिणी - रसयुगहर्यन्सौभ्रौस्लौगोयदाहरिणीतदा।।[22]

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, सगण, मगण, रगण, सगण एक लघु तथा एक गुरु वर्ण आये उसे हरिणी कहते हैं।

कृतमनुमतंदृष्टंवायैरिदंगुरुपातकं मनुजपशुभिर्निनर्मर्यादैर्भवध्दिरुदायुधैः नरकरिपुणासार्धतेषां स भीमकिरीटिना-मयमहमसृंमेदोमांसैःकरोमि दिशां बलिम्।।[23]

वेणीसंहार में इसका प्रयोग 5 बार हुआ है। (अंक - 3) 24; (अंक - 5) 8,41; (अंक - 6) 24,46।

इन छन्दों के अलावा ललिता छन्द का 2 बार प्रयोग हुआ है (अंक - 2) 5,6 । औपच्छन्दसिकं छन्द का प्रयोग एक बार (अंक - 2) 10। द्रुतविलम्बितं छन्द का प्रयोग एक बार किया गया हैं (अंक - 2) 21। पृथ्वी छन्द का प्रयोग 3 बार हुआ हैं (अंक - 3) 4,34 (अंक - 6) 18। पुष्पिताग्रा छन्द का प्रयोग 2 बार हुआ है। (अंक - 3) 6 (अंक - 4) 3। प्रहर्षिणी छन्द का प्रयोग 1 बार हुआ हैं (अंक - 3) 27। मंजुभाषिणी छन्द का प्रयोग 2 बार हुआ हैं (अंक - 3) 39 (अंक - 5) 14 उपजाति का 1 बार हुआ है (अंक - 6) 3। इस प्रकार हमने देखा वेणीसंहार में भट्टनारायण ने लगभग 19 छन्दों के बड़े ही उचित तरीके से प्रयोग किये है।

संदर्भ -

1. *कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी*
2. *पाणिनीय शिक्षा*
3. *यादव प्रकाश*
4. *छन्दोऽलंकारसौरभम् अभिराज राजेन्द्र मिश्र, पृ. 29*
5. *वेणीसंहार 1.1*
6. *छन्दोऽलंकारसौरभम् अभिराज राजेन्द्र मिश्र, पृ. 29*
7. *वेणीसंहार 1.2*
8. *छन्दोऽलंकारसौरभम् अभिराज राजेन्द्र मिश्र, पृ. 29*
9. *वेणीसंहार 1.3*
10. *छन्दोऽलंकारसौरभम् अभिराज राजेन्द्र मिश्र, पृ. 16*
11. *वेणीसंहार 1.4*
12. *छन्दौलंकारसौरभम् अभिराज राजेन्द्र मिश्र, पृ. 24*

13. वेणीसंहार 1.7

14. वेणीसंहारवृत्ति में पृ. 18

15. वेणीसंहार 1.9

16. छन्दोऽलंकारसौरभम् अभिराज राजेन्द्र मिश्र, पृ. 28

17. वेणीसंहार 1.23

18. छन्दोऽलंकारसौरभम् अभिराज राजेन्द्र मिश्र, पृ. 19

19. वेणीसंहार 1.26

20. छन्दोऽलंकारसौरभम् अभिराज राजेन्द्र मिश्र, पृ. 25

21. वेणीसंहार 2.16

22. छन्दोऽलंकारसौरभम् अभिराज राजेन्द्र मिश्र, पृ. 27

23. वेणीसंहार 3.24

26

वेणीसंहार में रीतितत्त्व

सचिन देव द्विवेदी

संस्कृत वाङ्मय में रीति शब्द का प्रथम प्रयोग आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। रीति शब्द की व्युत्पत्ति **''रीयते गम्यते इत्यनेन रीतिः''** अर्थात मार्ग जिसके द्वारा गमन किया जाय। काव्यशास्त्र में रीति से तात्पर्य है काव्यरीति, काव्यमार्ग, काव्यपथ आदि। यों समझा यह जाता है कि भारतीय काव्यशास्त्रीय रीति शब्द से अभिप्रेत है शैली, लेखन-प्रक्रिया, लेखन-प्रकार, आदि। पर यहाँ 'रीति' शब्द शैली आदि शब्दों से एक सीमा तक सम्बद्ध अवश्य है पर इन शब्दों का पर्यायवाची नहीं है। आचार्य वामन संस्कृत काव्य के उत्कर्ष काल के अंतिम और अपकर्ष काल के प्रथम अवस्था की संधि पर स्थित है। किन्तु रीति सिद्धांत वामन के पूर्व नहीं था ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वामन से पूर्व भरत, भामह, दंडी आदि आचार्यों ने प्रवृत्ति, मार्ग, आदि नामों से उल्लेख किया है।

आचार्य भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में रीति को प्रवृत्ति नाम से कहा है और इस प्रवृत्ति को भाषाचार, परिवेश, रहन-सहन आदि से सम्बंधित किया है- **''अत्राह प्रवृत्तिरिति कस्मात् ? उच्यते पृथिव्यां नानादेशवेष - भाषाचार - वार्ताः प्रख्यापयति वृत्तिः। प्रवृत्तिश्च निवेदने।''**[1]

अभिनवगुप्त भरत की इस प्रवृत्ति शब्द की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि इनको प्रवृत्ति क्यों कहते है और इनका आधार क्या है, इत्यादि को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि देश विशेष की भाषा, वेश, आचार-व्यवहार के वैविध्य की प्रसिद्धि को प्रवृत्ति कहते हैं। जिन जिन प्रदेशों में जो वेशभूषा, आचरण लोकव्यवहार है, उसके प्रख्यापन करने की वृत्ति प्रवृत्ति कही जाती है-

"प्रवृत्तिः देशविशेषगता वेषभाषाचार - वैचित्र्यप्रसिद्धिरुच्यते तत्रैवं योजना देशे देशे येष्वेव वेषादयो नेपथ्यं, भाषा - आचारो लोकशास्त्रव्यवहारः"[2]

इसी प्रवृत्ति को भाषाचार के आधार पर इसे चार भागों में विभक्त किया-

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयेगतः।
आवंती दाक्षिणात्या च पांचाली चौड्रंमागधीः।।[3]

यह अवंतिका, दक्षिणात्या, पांचाली तथा औंड्रमागधी को आचार्य भरत ने सम्पूर्ण भारत के रहन सहन भाषा एवं आचार-व्यवहार को इन्ही चारों प्रवृत्तियों में विभाजित किया है जैसे - अवंतिका- अवन्ती, मालवा, सिन्धु, सौराष्ट्र। दाक्षिणात्या-महाराष्ट्र, विदर्भदेश। पांचाली-पांचाल, शुरशेन, कश्मीर मद्र और औंड्रमागधी-मागधी, बंग, कलिंग, उड़ीसा, मिथिला, मगध आदि।

तथा वह इसके लिए 'मार्ग' शब्द का भी प्रयोग करते हैं-

एते मार्गास्तु निर्दिष्टा यथा भाव रसानि च।
काव्यबंधास्तु निर्दिष्टा द्वादशाभिनायात्मकाः।।

आचार्य दंडी ने गुणों की कल्पना काव्यमार्ग की पृष्ठभूमि पर की थी और मार्गों को दो वर्गों में विभक्त किया था वैदर्भमार्ग तथा गौणीयमार्ग, उन्होंने वैदर्भ को दाक्षिणात्य मार्ग कहा तथा गौडीय मार्ग को पौरस्त्य। जिसमे दाक्षिणात्या या वैदर्भ मार्ग को सर्वगुणसम्पन्न और श्लाघ्य माना था। गौडीय मार्ग पर वे बहुत आदृत नहीं मानते थे। परन्तु भामह ने उस समय की प्रचलित वैदर्भी और गौणीय काव्य प्रकारों का उल्लेख करते हुए उन दोनों के महत्त्व को प्रतिपादित किया है-[4]

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यते सुधियोऽपरे।
तदेव किल ज्याय सदर्थमपि नापरम्।।31
गौडीयमिदमेतत् तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्।। 32
अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधियो वैदर्भ्यमिति नान्यथा।। 33

परन्तु वामन ने रीति को काव्य के विशिष्ट तत्त्व के रूप में परिकल्पित कर निश्चित सिद्धांतों के आधार पर रीति को सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित कर अपनी विशिष्ट पहचान को प्राप्त किया।

वामन सम्मत रीति सिद्धांत के निरुपण के पूर्व गुण और रीति के विषय में

पूर्वाचार्यों ने तो चर्चा नहीं की परन्तु गुण के विषय में भरत दंडी आदि आचार्यों ने श्लेष, प्रसाद, समता आदि गुणों की चर्चा करते हुए दश गुणों की चर्चा की है-

श्लेषः प्रसाद समता समाधिः, माधुर्यमौजपदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च, कान्तिश्च काव्यस्य गुणारूदशेते।।[5]

वहीं वामन ने भी इन गुणों को गिनाया परंतु तीनों आचार्यों के द्वारा किए गए लक्षण आपस में मेल नहीं खाते हैं दंण्डी ने उक्त मार्गो के प्रसंग में उक्त 10 गुणों का निरुपण किया था कि श्लेष आदि 10 गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं। इसी को वामन ने तीन रीतियां मानी है, वैदर्भी, पाञ्चाली और गौड़ीय इन्हीं तीनों का संबंध गुणों के साथ स्थापित किया है वस्तुतः विचार करने पर वामन के रीति सिद्धांत पर उक्त आचार्य भरत, दण्डी के उपर्युक्त प्रसंगों का कोई विशिष्ट प्रभाव नहीं है वामन ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य से पारिभाषिक शब्द ग्रहण अवश्य किया है, परंतु इनका रीति सिद्धांत स्वयं का है और रीति का प्रवर्तन काव्यतत्त्व के रूप में करने में सर्वप्रथम है, गुण और अलंकार में भी प्रत्यक्षतः भेद स्पष्ट करने का गौरव भी वामन को ही प्राप्त है क्योंकि भरत और भामह ने गुण और अलंकार के भेद को स्पष्ट नहीं किया है, दण्डी ने वैसे प्रत्यक्षतः काव्य की शोभा कारक समस्त धर्म को अलंकार कहा है-

''काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते''[6]

लेकिन गुण का सम्बन्ध मार्ग से उल्लिखित कर प्रकारान्तर से गुण और अलंकार का भेद दिखाया तथा गुण और मार्ग के संबंध को संकेतित कर दिया।

परंतु वामन ने गुण और अलंकार के भेद को प्रत्यक्षतः पार्थक्य कर के दिखाया। एक ओर अलंकार को वे व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए कहते हैं कि- **''सौन्दर्यमलंकारः''**[7]

तो दूसरी और गुण को शब्दार्थ का कारक धर्म और अलंकार को उत्कर्षाधायक हेतु-

''काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणः''[8], **''तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः''**[9]

गुणों को काव्य का नित्य धर्म तथा अलंकार को अनित्य धर्म मानते हैं। इस प्रकार वामन की दृष्टि में अलंकार का महत्त्व गुणों की अपेक्षा कम हो गया। क्योंकि वामन के पूर्व काव्य में शोभाकारक धर्म के रूप में अलंकार का ही प्राधान्य था, परन्तु वामन काव्य के शोभा कारक धर्म को गुण मानते हैं, और यही गुण रीति का सर्वस्व है। रीति को काव्य के विशिष्ट तत्त्व के रूप में प्रतिपादित करते हुए उसका लक्षण इस प्रकार से करते है-**''विशिष्टा पदरचना रीतिः''**[10]

अर्थात् सामान्य पद रचना नहीं अपितु विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हैं और यह विशिष्टता गुणों के सम्यक् संयोजन से ही आती है। यही गुण रीति का सर्वस्व है-**''विशेषो गुणात्मा''**[11] गुणों से युक्त रीति ही काव्य की आत्मा है- **''रीतिरात्मा काव्यस्य''**[12] वामन के परवर्ती आचार्यो से गुणों की संख्या नियत की और और गुणों को रस का धर्म स्वीकार कर रस की प्रधानता स्वीकार करने के कारण पद संघटना को रीति कहा जिसमें प्रमुख रूप से ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन तथा उनके अनुयायी मम्मट विश्वनाथ आदि हैं आनन्दवर्धन रीति को संघटना (सम्यक् घटना = रचना) नाम दिया और इसे समास से सम्बद्ध मानकर इसके तीन रूप स्वीकार किये असमासा अल्पसमासा और दीर्घसमासा, उनके अनुसार संघटना का कार्य है गुणों के आश्रित रहकर रस को व्यक्त करना।

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता।।[13]

आनन्दवर्धन से ही प्रेरणा प्राप्त मम्मट, विश्वनाथ ने रीति कालक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया - नियत वर्णों का रस विषयक व्यापार वृत्ति (रीति) कहलाती है- **''वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः''**[14]

तथा विश्वनाथ पद संघटना को रीति कहते हैं। यह अंग संस्था के समान है, अर्थात काव्य-पुरुष रूपक में इसकी स्थिति शरीर के अवयवों की बनावट के समान है। और इसी रूप में विद्यमान होकर वह रस का उपकार करती है

''पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम्।।[15]

इस प्रकार इन आचाओं ने तीन रीतियाँ मानी वैदर्भी, गौणी और पाञ्चाली और इन्हें क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद के रचनागत स्वरूप के साथ सम्बद्ध किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वामन सम्मत रीति एक विशिष्ट प्रकार की पद रचना है जो गुणों के द्वारा निर्मित होती है। और इन गुणों में ही काव्य के समस्त शोभाकारक धर्म समाविष्ट हो जाते हैं, और इन्ही से रीति बनती है। अतः वामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया। यह रीति तीन प्रकार की है- वैदर्भी, गौडीय और पांचाली। वेणीसंहार महाकवि भट्टनारायण कृत वीररस प्रधान छः अंकों का यह नाटक है। यह महाभारत की महत्त्वपूर्ण घटना पर आधारित है। इसमे भीम के द्वारा द्रौपदी के वेणीसंहार (वेणी बांधने य संवारने) का

वर्णन है इसी घटना के आधार पर इस नाटक का नाम वेणीसंहार पड़ा। क्योंकि दुःशासन के अपमान से संतप्त द्रौपदी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि दुर्योधन और दुःशासन के मारे जाने पर ही वह अपने वेणी बांधेगी। इसी घटना की पूर्ति के लिए भीम प्रतिज्ञा करते हैं, कि वह दुःशासन की छाती का खून पियेगा और दुर्योधन की जंघा को तोड़ेगा। इसी घटना के आधार पर महाभारत के सम्पूर्ण कथानक का बड़ी कुशलता के साथ इस नाटक में वर्णन किया गया है। इन्ही काव्यगत रचना वैशिष्ट्य के लिए नाटककार ने नाटक में सभी रीतियों का सम्यक् संयोजन अत्यन्त कुशलता से किया है। लेकिन वीर रस प्रधान नाटक होने के कारण ओजोगुण का सर्वातिशायी प्रभाव है, कविता में ओजस्विता तेजस्विता सर्वत्र व्याप्त है। युद्ध के अनुकूल विकट वर्णों का विन्यास तथा समास बहुलता होने से गौडीय रीति की प्रधानता द्योतित होती है।अतः सर्वप्रथम गौडीय रीति पर विचार किया जा रहा है।

गौडीया- ओज और कान्ति नामक गुणों से युक्त कठिन वर्गों से निर्मित, समास की बहुलता से युक्त उद्भटबन्ध को गौडी कहते हैं जिसका लक्षण आचार्य करते हुए कहते हैं-

ओजः कान्तिमती गौडीया[16]
समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः।।

आचार्य विश्वनाथ से भी कुछ इसी प्रकार का लक्षण किया है, कि ओज को प्रकाशित करने वाले वर्णों से युक्त समास बहुला गौडी रीति होती है। **ओजः प्रकाशकैवर्णवन्धः आडम्बरः पुनः समासबहुला गौडीः।**[17]

बन्ध की गाढ़ता को शब्दगत ओजगुण कहते हैं। बन्ध कहते हैं पद रचना को और गाढ़ता से अभिप्राय है पद रचना की सघनता, संयुक्ताक्षरत्व रेफ का अधिक प्रयोग उपर नीचे प्रयोग तथा दीर्घसमासता आदि। वेणीसंहार नाटक में गौड़ी रीति के अनेक उदाहरण दिये गये हैं। जैसे भीम अपने परिजनों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि युद्धरूपी अनुपम सागर के मध्य जल में विचरण करने में पांडु के पुत्र कुशल हैं-

स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धो
सङ्ग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः।।[18]
मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः।[19]

इस स्थल विशेष में पदशैय्या अत्यन्त सघन है, और रेफ वर्ण का अधिक प्रयोग भी है फलतः ओज शब्दगुण है। इसी प्रकार युद्ध आदि उद्धत प्रसंगों में इसके अनेक उदाहरणों का प्रयोग नाटककार ने किया है।

वैदर्भी - विदर्भादी प्रदेशों में प्रचलित होने के कारण इसे वैदर्भी रीति कहते हैं, यह वैदर्भी रीति समग्र गुणों से युक्त होती है - **समग्रगुणा वैदर्भी**[20]

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते।।

साहित्य दर्पणकार माधुर्य व्यंजक वर्णों के द्वारा की हुई समास रहित अथवा छोटे समासों से युक्त मनोरम रचना को वैदर्भी कहा है-

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मकाः।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।।[21]

यह दोषरहित तथा वीणा के स्वरों के समान मधुर होती है, जो शब्द और अर्थ के चमत्कार से भिन्न है। वामन सम्मत वैदर्भी असमस्तपदा तो नहीं होती परन्तु जहाँ समास रहित होती है, उसे शुद्ध वैदर्भी कहते हैं। इन्हीं गुणों के कारण कविगण इस रीति का प्रयोग अधिक करते हैं।

वेणीसंहार नाटक में वैदर्भी का प्रयोग नाटककार ने अनेक पद्यों में किया है, यहाँ हम लालित्य से युक्त कतिपय पद्यों को प्रस्तुत कर रहे हैं -

किं कण्ठे शिथिलीतो भुजलतापाशः प्रमादान्मया
निद्राच्छेदविवर्तनेष्वभिमुखं नाद्यापि संभाविता।[22]
गुरूणां बन्धूनां क्षितिपतिसहस्रस्य च पुरः
पुराभूदस्माकं नृपसदसि योऽयं परिभवः।[23]

पाञ्चाली - आचार्य वामन कहते है की माधुर्य और सुकुमारता से संपन्न रीति ही पाञ्चाली है। **''माधुर्यसौकुमर्योपपन्ना पाञ्चाली''**[24] पृथक् पदता को माधुर्य कहते हैं- **''पृथक् पदत्वं माधुर्य''**[25] जहाँ रचनागत पदों की पारस्परिक पृथकता हो उसे शब्दगत माधुर्य गुण कहते हैं। वेणीसंहार नाटक में अंगराज कर्ण के मृत्यु के समाचार को सुनकर दुर्योधन दुखःपुर्वक कहता है कि कर्ण के विषय में यह समाचार बिलकुल भी न सुना जा सकने वाला अत्यंत अनुचित किया गया है, जिसका बदला युद्ध भूमि में उस कुल का विनाश करने वाला हूँ- **शोचामि शोच्यमपि शत्रुहतं न वत्सं**

दुःशासनं तमधुना न च बन्धुवर्गम्। येनातिदुःश्रवमसाधु तं तु कर्णे कर्तास्मि तस्य निधनं समरे कुलस्य।।[26]

उक्ति की विचित्रता अर्थात् सुन्दर वर्णन को माधुर्यनामक अर्थगुण कहते है। **''उक्तिवैचित्र्यं माधुर्य''** जैसे वेणीसंहार के प्रथम अंक में-

आत्मारामो विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।

संक्षेपतः यह कहा जा सकता है वामन सम्मत रीति को आधार बनाकर सुन्दर पदरचना के द्वारा वेणीसंहार नाटक चमत्कार से परिपूर्ण एक उत्कृष्ट नाटक कहा जा सकता है। जिसमें नाटककार महाकवि भट्टनारायण ने सभी रीतियों का सम्यक् संयोजन उचित प्रकार से किया है।

संदर्भ -

1. *नाट्यशास्त्र - 13/163*
2. *वही*
3. *नाट्यशास्त्र 13/37*
4. *काव्यालंकार(भामह) 1/31-33*
5. *नाट्यशास्त्र*
6. *काव्यादर्श 2.1*
7. *काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/1/2*
8. *वही, 3/1/1*
9. *वही, 3/1/2*
10. *वही, 1/2/7*
11. *वही, 1/2/8*
12. *वही, 1/2/6*
13. *ध्वन्यालोक 3/5*
14. *काव्यप्रकाश 9/पृ.404*
15. *साहित्यदर्पण 9.1*
16. *काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/2/12*
17. *साहित्यदर्पण 9.3*
18. *वेणीसंहार 1/27*
19. *वेणीसंहार 1/22*
20. *काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/2/11*
21. *साहित्यदर्पण 9.2*
22. *वेणीसंहार 2/9*
23. *वेणीसंहार 6/5*
24. *काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 4/2/13*
25. *काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 3/1/20*
26. *वेणीसंहार 5/1*

27

वेणीसंहार में वक्रोक्ति-योजना

शिवपूजन चौरसिया

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक माने जाते हैं, किन्तु कुन्तक से पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को अलंकार की आत्मा माना है, इस वक्रोक्ति से ही अर्थ में रमणीयता आती है, इसके बिना कोई भी अलंकार सम्भव नहीं है।[2] वाणी की शोभा वक्रतामय शब्द और अर्थ से ही सम्पन्न होती है[3] तथा वक्रतायुक्त शब्दार्थ का प्रयोग ही वाणी में सौन्दर्य को उत्पन्न करता है।[4] आचार्य वामन ने सादृश्य लक्षणा को वक्रोक्ति माना है।[5] बारहवीं शताब्दी के आचार्य मम्मट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार के अन्तर्गत स्वीकार किया है, उनके अनुसार-

यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।।[6]

अर्थात् जो वक्ता के द्वारा अन्य प्रकार से कहा गया वाक्य दूसरे के द्वारा श्लेष अथवा काकु (बोलने का लहजा) से अन्य अर्थ में लगा लिया जाता है; वह वक्रोक्ति नामक अलंकार होता है। इस प्रकार वक्रोक्ति के दो भेद हो जाते हैं- श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति।

वस्तुतः काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्य 'वक्रोक्ति' को अलंकार के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु वक्रोक्ति जीवितकार आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को अन्य अर्थ में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार-

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।।[7]

अर्थात् शब्द, अर्थ ये दोनों अलङ्कार्य होते हैं तथा वैदग्ध्य भंगीभणिति ही वक्रोक्ति है। आचार्य कुन्तक ने वैदग्ध्य का अर्थ कवि कर्मकौशल किया है।

भंगी, शोभा, वक्रता, सौन्दर्य आदि ये सभी शब्द संस्कृत साहित्य में समान अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। भणिति का अर्थ-उक्ति अथवा कथन है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वक्रोक्ति एक ऐसी कथन भंगिमा है जो लोक व्यवहार में प्रयुक्त सामान्य कथन से भिन्न हो, प्रतिभाशाली कवि के कौशल से पूर्ण हो तथा काव्य मर्मज्ञों के हृदय को आह्लादित करने में समर्थ हो; उन्होंने वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा कहा है। उनके अनुसार-

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।[8]

अर्थात् सहृदय को आह्लादित करने वाले एवं मन को आकर्षित करने वाले कवि व्यापार से युक्त वाक्य विन्यास में सुन्दर ढंग से व्यवस्थित, साहित्यमय शब्द और अर्थ को काव्य कहा जाता है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद किए हैं[9]- वर्णविन्यास वक्रता, पदपूर्वार्ध वक्रता, पदपरार्ध वक्रता, वाक्य वक्रता, प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध वक्रता। कवि भट्टनारायण ने वीर रस प्रधान 'वेणीसंहार' नाटक में विभिन्न काव्य शास्त्रीय तत्त्वों का चमत्कारिक रूप में प्रयोग किया है; जिनमें वक्रोक्ति की भट्टनारायण ने अपने नाटक में अद्भुत योजना की है। 'वेणीसंहार' में प्रयुक्त प्रमुख वक्रता का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है-

वर्णविन्यास वक्रता-

वर्णों का विन्यास या अक्षरों की विशिष्ट रचना, उसका वक्रभाव, प्रसिद्ध स्थान से भिन्न, विचित्रता से उपनिबद्ध विशेष प्रकार की रचना द्वारा विहित काव्य मर्मज्ञों को आह्लादित करने वाला शब्द की शोभा का बाहुल्य वर्णविन्यास वक्रता होती है। आचार्य कुन्तक के अनुसार-

एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्तावर्णविन्यासवक्रता।।[10]

अर्थात् जहाँ एक या दो या अनेक वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से अनेकशः प्रयुक्त होते हैं, वहाँ तीन प्रकार की वर्णविन्यास वक्रता मानी गयी है। यहाँ वर्ण से तात्पर्य व्यंजन वर्णों से है।[11] इसके अतिरिक्त शब्दालंकार (अनुप्रास, यमक) विभिन्न वृत्तियों एवं शब्दगुणों का भी इसमें समावेश होता है। आचार्य कुन्तक ने यह भी स्पष्ट किया है कि काव्य में प्रयुक्त वर्ण-योजना विषय के अनुकूल होनी चाहिए तथा वर्णों में कृत्रिमता न होकर सहजता होनी चाहिए। भट्टनारायण ने अपने नाट्य

ग्रन्थ वेणीसंहार में वर्ण-विन्यास वक्रता का प्रयोग करके नाटक को और अधिक रमणीय बना दिया। वेणीसंहार में प्रयुक्त वर्ण-विन्यास वक्रता का कुछ रमणीय उदाहरण निम्न द्रष्टव्य हैं-

सहभृत्यगणं सबान्धवं सह मित्रं ससुतं सहानुजम्।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम्।।[12]

अर्थात् पाण्डुसुत अपने बल से भृत्यवर्ग, बान्धव वर्ग, मित्र मण्डली, पुत्रों तथा अनुजों सहित सुयोधन को युद्ध में शीघ्र ही मार देंगे।

यहाँ पर कवि भट्टनारायण द्वारा प्रयुक्त अनुप्रास की छटा बलात् हृदय को आह्लादित करने में समर्थ है। इसी प्रकार वेणीसंहार के चतुर्थ अंक के आरम्भ में ही नेपथ्य से बोले जाने वाले वाक्यों में अनुप्रासजन्य चमत्कार अत्यन्त रमणीय है-

भोः भोः बाहुबलाऽवलेपप्रवर्तितमहासमरदोहदाः कौरवपक्षपातपणी-कृतप्राणद्रविण-संचयाः नरपतयः! संस्तभ्यन्तां संस्तभ्यन्ताम्, निहतदुःशासन-पीताव-शेषशोणितस्नपितबीभत्स-वेशवृकोदरदर्शनभय-परिस्खलत्प्रहरणा निरणात्प्रद्रवन्ति बलानि।[13]

उपर्युक्त दोनों उदाहरण वर्ण-विन्यास से उत्पन्न शब्दशोभातिशय से युक्त काव्य मर्मज्ञों के हृदय को आह्लादित करने में समर्थ है। यही वर्ण-विन्यास वक्रता अलंकार शास्त्र में अनुप्रास के नाम से प्रसिद्ध है।[14]

पदपूर्वार्धवक्रता-

आचार्य कुन्तक ने पद पूर्वार्ध वक्रता के विषय में कहा है- **''पदपूर्वार्धवक्रता-पदस्य सुबन्तस्य तिङन्तस्य वा यत्पूर्वार्धं प्रातिपदिक-लक्षणं धातुलक्षणं वा तस्य वक्रतावक्रभावो विन्यासवैचित्र्यम्। तत्र च बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति।''**[15]

अर्थात् सुबन्त तथा तिङन्त पद जो प्रातिपदिक रूप अथवा धातुरूप की वक्रता या विशेष ढंग की रचना का वैचित्र्य है वह पदपूर्वार्धवक्रता कही जाती है। इसके रूढ़ि, संज्ञा, पर्याय, उपचार, विशेषण, संवृति, वृत्ति, लिङ्ग, क्रिया, आदि अनेक भेद होते हैं। पर्याय वक्रता वाच्य के द्वारा सम्भव न हो सकने वाले दूसरे धर्म के आधार को लेकर प्रयुक्त पर्यायों में देखी जा सकती है। इस वक्रता का एक चित्ताकर्षक उदाहरण वेणीसंहार के तृतीय अंक में भीम के इस कथन में देखा जा सकता है-

''अङ्गराज! सेनापते! भुजबलपरिरक्षितसकललोक! इदंतदासन्नतर-मेवसंवृत्तम्। रक्षैनं साम्प्रतं भीमाद् दुःशासनम्।[16]

अर्थात् हे अंगराज! हे सेनापते! भुजबल से सम्पूर्ण संसार के रक्षक! यह वही अवसर आ गया है। अब भीम से इस दुःशासन को बचाओ।

यहाँ पर भीम के इस कथन में वाच्य रूप कर्ण के द्वारा सम्बोधन न कर जिन पर्याय रूप विशेषणों (अङ्गराज! सेनापते! भुजबलपरिरक्षितसकललोक!) का प्रयोग किया गया है; उनके द्वारा असम्भाव्यमान उस दुःशासन की रक्षा की पात्रता रूप अकिंचित्करता को गर्भितकर 'इसकी रक्षा करो' इस प्रकार उपहास किया जाता है। अतः यहाँ पर पर्याय वक्रता है।

पदपूर्वार्धवक्रता का एक अन्य भेदवृत्ति वैचित्र्य वक्रता है। जहाँ पर अनेक समास, सुबन्त, तिङन्त आदि वृत्तियों के बीच से कविजन किन्हीं विचित्र वृत्तियों का ही प्रयोग करते हैं तो वहाँ परवृत्ति वैचित्र्य वक्रता होती है। वेणीसंहार में समास वृत्ति का निम्न उदारण द्रष्टव्य है-

देव! पश्य, पश्य एतत्तुहिनकणशिशिरसमीरणोद्वेल्लितवृन्तबन्धुर-शेफालिका-विरचितकुसुमप्रकरम्, ईशदालोहितमुग्धवधूकपोलपाटललोध्रप्रसून-विजितश्यामलता-सौभाग्यम्, उन्मीलितबहुलकुन्दकुसुमसुरभिशीतलं प्रभातकालर मणीयमग्रतस्तेबालोद्यानम् तदवलोकयतु देवः।[17]

यहाँ पर कवि असामासिक पदों का भी प्रयोग कर सकता था; किन्तु कवि ने श्रेष्ठ साहित्यकार का परिचय देते हुए लम्बे-लम्बे समासिक पदों का प्रयोग करके काव्य को और अधिक आकर्षक बना दिया है। अतः यहाँ पर समास युक्त शैली होने के कारण वृत्तिवक्रता है।

पदपरार्धवक्रता-

पदपरार्ध वक्रता में पदों के उत्तरार्ध में वैचित्र्य का विश्लेषण होता है। इसे प्रत्यय वक्रता के नाम से भी जाना जाता है। वक्रता का प्रत्यय के आश्रित रहनेवाला अवान्तर भेद प्रत्ययाश्रित वक्रता कहलाता है। इसके संख्या वैचित्र्य से उत्पन्न, कारक वैचित्र्य से उत्पन्न, पुरुष वैचित्र्य से उत्पन्न, कालवैचित्र्य से उत्पन्न तथा प्रत्यय वैचित्र्य से उत्पन्न अनेक भेद सम्भव हैं।[18] संख्या या वचन के वैचित्र्य से उत्पन्न वक्रता का उदाहरण वेणीसंहार में अनेकानेक स्थलों पर प्राप्त होता है।

कहीं-कहीं प्रत्यय के प्रयोग से काव्य में चमत्कार उत्पन्न होता है तो वहाँ पर भी प्रत्ययाश्रित वक्रता होती है। जैसे-

हत्वापार्थान्सलिलमशिवं बन्धुवर्गाय दत्त्वा,
मुक्वावाष्पं सह कतिपयैर्मन्त्रिभिश्चाऽरिभिश्च।
कृत्वाऽन्योऽन्यं सुचिरमपुनर्भाविगाढोपगूढम्,[19]

न खलुमयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलितावेणिरात्मपाणिना। तिष्ठ तिष्ठ। अहमेव संहरामि।[20]

यहाँ पर प्रथम उदाहरण में 'हत्वा' आदि क्रिया में क्त्वा' प्रत्यय होने के कारण तथा दूसरे उदाहरण में वस्तु अनुकूल विभिन्न क्रियापदों के प्रयुक्त होने के कारण काव्य में चमत्कार उत्पन्न हुआ है। अतः इनमें प्रत्ययाश्रित वक्रता है।

वाक्य वक्रता-

सम्पूर्ण साहित्य का प्राणभूत तत्त्व वाक्य की वक्रता को परिभाषित करते हुए आचार्य कुन्तक ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवितम् में कहा है-

मार्गस्थवक्रशब्दार्थगुणालङ्कारसंपदः।
अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहितिजीवितम्।।
मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक्।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम्।।[21]

अर्थात् सुकुमारादि मार्गों में विद्यमान वक्र शब्दों, अर्थों, गुणों एवं अलंकारों की सम्मति से भिन्न, चित्र के मनोहर चित्रपट, रेखाचित्र, रंगों तथा उसकी कान्ति से भिन्न चित्रकार को किसी अलौकिक निपुणता के तुल्य, उस प्रकार के अनिर्वचनीय ढंग ये वर्णन रूप प्राणवाली कवि की कुछ अपूर्व सरलता ही वाक्य की वक्रता होती है। इसके हजारों भेद हो सकते हैं।[22] भट्टनारायण ने वेणीसंहार के द्वितीय अंक में वाक्य वक्रता का सुन्दर उदारण प्रस्तुत किया है। जहाँ पर प्रचण्ड वायु के चलने से भयभीत भानुमती महाराज दुर्योधन का सहसा आलिंगन कर लेती है-

न्यस्ता न भ्रुकुटिर्न वाष्पसलिलैराच्छादिते लोचने
नीतं नाननमन्यतःसशपथं नाहं स्पृशन्वारितः।
तन्व्या मग्नपयोधरं भयवशादाबद्धमालिङ्गतं
भङ्क्ताऽस्या नियमस्य भीषणमरुन्नायं वयस्यो नु मे।।[23]

इस तन्वंगी ने भौहें तिरछी कर ली, न आँसुओं को ढका, न मुंह को दूसरी तरफ घुमाया तथा मुझे स्पर्श करते हुए शपथ दिलाकर ऐसा करने से मना भी नहीं किया। भयवश अपने पयोधर को गड़ाकर आलिंगन करना आरम्भ कर दिया। इसके व्रत को तोड़ने वाला यह भीषण पवन मेरा मित्र नहीं है क्या?

योग्यता, आकांक्षा एवं सन्निधि से युक्त उपर्युक्त श्लोक में कवि भट्टनारायण ने वाक्य की वक्रता से भीषण वायु को महाराज दुर्योधन के उपकारी के रूप में प्रस्तुत किया है; क्योंकि प्रचण्ड वायु से भयभीत होकर दुर्योधन का आलिंगन करके भानुमती ने अनायास ही उसके मनोरथ को पूर्ण कर दिया है। इस प्रकार कवि ने वाक्य की वक्रता से काव्य में वैचित्र्य उत्पन्न कर दिया है।

प्रकरण वक्रता-

आचार्य कुन्तक ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित के चतुर्थ उन्मेष में प्रकरण-वक्रता को परिभाषित करते हुए लिखा है-

यत्र निर्यन्त्रणोत्साहपरिस्पन्दोपशोभिनी।
व्यावृत्तिर्व्यवहर्तृणां स्वाशयोल्लेखशालिनी।।
अप्यामूलादनाशङ्क्यसमुत्थाने मनोरथे।
काप्युन्मीलति निःसीमा सा प्रबन्धांशवक्रता।।[24]

अर्थात् जहाँ पर जड़ से लेकर ही असम्भावित अंकुरण वाले कवि मनोरथ के प्रस्तुत किये जाने पर एक अनिर्वचनीय और असीम तथा निर्बाध उत्साह के स्फुरण के कारण सुशोभित होने वाली और अपने आश्रय की उद्भावना के कारण मनोहर लगने वाले, व्यवहार करने वालों की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है उसे प्रकरण वक्रता कहते हैं। आचार्य कुन्तक का प्रकरण-वक्रता से अभिप्राय प्रसिद्ध ऐतिहासिक अथवा पौराणिक इतिवृत्तों में कवि कल्पना से प्रसूत अनेक मार्मिक और मौलिक प्रसंगों की उद्भावना से है। यथा-

भट्टनारायण ने एक कुशल साहित्यकार की भाँति महाभारत आश्रित वेणीसंहार में मौलिक कथावस्तु को संरक्षित करते हुए उनमें कुछ कल्पना का भी समावेश किया है। जिनमें से सर्वप्रमुख है महाराज दुर्योधन की पत्नी 'भानुमती' का प्रकरण। सम्भवतः यह प्रकरण कवि की कल्पना प्रसूत है। क्योंकि इस प्रकरण का वर्णन महाभारत में नहीं मिलता है। आचार्य कुन्तक ने प्रकरण वक्रता के उदाहरण स्वरूप वेणीसंहार का वर्णन भी किया है।[25]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कवि अपनी प्रतिभा, क्षमता एवं अभ्यास के फलस्वरूप सहृदय जन को आह्लादित करने के लिए प्रकरण वक्रता की योजना करता है।

प्रबन्ध वक्रता-

समग्र प्रबन्ध कौशल ही प्रबन्ध वक्रता है जो कि यह कवि की प्रतिभा पर ही निर्भर होती है। आचार्य कुन्तक ने प्रबन्ध वक्रता का लक्षण देते हुए कहा है-

इतिवृत्तान्यथावृत्तारससंपदुपेक्षाया।
रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत्।।
तस्या एव कथामूर्तेरामूलोवनमीलिताश्रियः।
विनेयानन्दनिश्पत्त्यै सा प्रबन्धस्य वक्रता।।[26]

अर्थात् राजपुत्रादि के लिये आनन्द की सृष्टि हेतु जहाँ इतिहास में अन्य प्रकार से किये गये निर्वाह वाली रस सम्पत्ति का तिरस्कार कर प्रारम्भ से ही उन्मीलित किये गये सौन्दर्य वाले काव्य शरीर का दूसरे मनोहर रस के द्वारा निर्वाह किया गया हो तो वहाँ प्रबन्ध वक्रता होती है।

प्रबन्ध वक्रता का सर्वप्रसिद्ध उदाहरण भट्टनारायण द्वारा विरचित 'वेणीसंहार' नामक नाटक है। यह नाटक महर्षि वेदव्यास विरचित 'महाभारत' पर आश्रित है और आचार्य आनन्दवर्धन ने महाभारत को शान्त रस प्रधान महाकाव्य माना है।[27] किन्तु इस नाटक की इतिवृत्ति कवि ने दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है जिसमें वीर रस अंग के रूप में वर्णित है। अतः इनमें प्रबन्ध वक्रता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि भट्टनारायण ने अपने नाट्य ग्रन्थ 'वेणीसंहार' में आचार्य कुन्तक द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति की कथानुकूल एवं सुन्दर अभिव्यक्ति की है। जिसके कारण आचार्य कुन्तक ने वेणीसंहार को विभिन्न स्थलों पर वक्रोक्ति के श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

संदर्भ -

1. *आप्टे, वामनशिवराम, संस्कृत हिन्दी शब्दकोश, पृ. सं. 957*
2. *सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।*
   यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया बिना।। काव्यालंकार 2/85

3. वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते।। वही, 5/66
4. वक्रताऽभिधेयशब्दोक्तिरिष्टां वाचामलङ्कृतिः।। वही, 1/36
5. सादृश्याल्लक्षणावक्रोक्तिः।। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 4/3/8
6. काव्यप्रकाश, 9/78
7. वक्रोक्तिजीवित, 1/10
8. वही, 1/7
9. कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट्। वही, 1/18
10. वही, 2/1
11. वर्णशब्दोऽत्र व्यञ्जनपर्यायः तथाप्रसिद्धत्वात्। वही, 2/1 वृत्तिभाग।
12. वेणीसंहार, द्वितीय अंक,. लोक सं. 5
13. वही, चतुर्थ अंक, आरम्भ
14. वृत्तिभाग, एतदेव वर्णविन्याससवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्। वक्रोक्तिजीवित 1/19
15. वही, 1/19, वृत्तिभाग।
16. वेणीसंहार, तृतीय अंक,. लोक 47, गद्यभाग।
17. वही, द्वितीय अंक,. लोक 6, गद्यभाग।
18. तस्यापि बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति संख्यावैचित्र्यविहितः कारकवैचित्र्यहितः पुरुषवैचित्र्यविहितश्च। वक्रोक्तिजीवित 1/19, वृत्तिभाग,
19 वेणीसंहार, चतुर्थ अंक, लोक सं. 13
20. वही, षष्ठ अंक, लोक सं. 37, गद्यभाग।
21. वक्रोक्तिजीवितम्, 3/3-4
22. वही, 1/20
23. वेणीसंहार, द्वितीय अंक, लोक सं. 20
24. वक्रोक्तिजीवितम्, 4/1-2
25. यथा वेणीसंहारे प्रतिमुखसन्ध्यङ्गभागिनि द्वितीयेऽङ्के। वही, चतुर्थ अंक,. लोक सं. 15, वृत्तिभाग।
26. वही, चतुर्थ अंक, लोक सं. 16-17
27. शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते। ध्वन्यालोक, 4/5, वृत्ति भाग

28

भट्टनारायण का काकु सौन्दर्य

राघवेन्द्र शर्मा

काकु शब्द निष्पत्ति- भ्वादिगण की लौल्यार्थक कक् धातु से उण् प्रत्यय करने पर काकु शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका अर्थ है ध्वनि में परिवर्तन। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट का मानना है कि ध्वनि के विकार को काकु कहते हैं।[1] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार बदली हुई कण्ठ ध्वनि को काकु कहते हैं- भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।[2] अमरकोशकार उस ध्वनि के विकार को काकु कहते हैं जो शोक, भय आदि के द्वारा उत्पन्न हुआ हो। जैसे- काकुस्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः।[3] इस प्रकार ध्वनि के विकृतरूप को काकु कहते हैं। यह विकृतरूप भय, शोक, क्रोधादि जन्य होता है। जैसा कि वामनशिवराम आप्टे का मानना है- भय, शोक, क्रोधादि संवेगों के कारण स्वर में परिवर्तन ही काकूक्ति कहलाती है।[4]

काकुसौन्दर्य- काकु सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाली, चमत्कृतिआधायक, काव्यानन्दरूपिणी काव्यसौन्दर्यवर्धक, रमणीयतायुक्त प्रौढ़ोक्ति, आर्थीव्यञ्जनारूपिणी, गुणीभूतव्यङ्ग्यस्वरूपिणी, वक्रोक्ति सदृश ध्वनि का विकार है, जो सहृदय हृदय संवेद्य होने के कारण नित्यानन्दोत्पादक है। संस्कृत काव्यशास्त्र जगत् में आचार्य भरत मुनि से लेकर अनेक काव्यशास्त्रियों ने काकु का बहुविध निबन्धन किया है। ध्वनिवादी आचार्य काकु को ध्वनि काव्य के अन्तर्गत आर्थी व्यञ्जना रूप में स्वीकार करते हैं। यथा

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा।।[5]

आचार्य मम्मट आर्थीव्यञ्जना के भेद के रूप में काकु को स्वीकार करते हैं। सहृदयों को वाच्य और लक्ष्य से भिन्न अन्य अर्थ की प्रतीति का हेतुर्भूत अर्थ का व्यापार व्यञ्जना शक्तिरूप में विख्यात है। जहाँ काकु के द्वारा वाच्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् विलम्ब से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ काकु ध्वनि व्यञ्जित होती है। गुणीभूतव्यङ्ग्य में व्यङ्ग्यार्थरूप काकुसौन्दर्य वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण नहीं होता वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य होता है। गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य आठ प्रकार का होता है। जिनमें से एक भेद है काक्वाक्षिप्तगुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य। जहाँ व्यङ्ग्य काकु द्वारा आक्षिप्त हो अथवा वाच्यार्थ के साथ ही व्यङ्ग्यार्थ की अविलम्बेन प्रतीति हो, वहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है। काकुवक्रोक्ति अलङ्कार में वक्ता किसी वाक्य को अन्य अर्थ में कहे और गृहीता उसी वाक्य को तद्भिन्न अन्य अर्थ में ग्रहण करे, वहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार होता है। यह वक्रोक्ति अलङ्कार श्लेष और काकु के भेद से दो प्रकार का होता है। यथा-

यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।।[6]

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि काकु को काव्यशास्त्रियों ने सौन्दर्याधायक तत्त्व माना है। जिसके द्वारा सहृदय आनन्दावस्था को प्राप्त करता है।

भट्टनारायण की काकूक्ति - संस्कृत साहित्यकारों में भट्टनारायण वीररस के अग्रगण्य महाकवि हैं। इनके द्वारा रचित वेणीसंहार नाटक में समागत वीरोक्तियाँ सहृदय समाज को वीररस से आप्लावित करती हैं। भट्टनारायण की उक्तियाँ अधिकांश काकु आश्रित हैं। जिनके चमत्कार से वेणीसंहार चमत्कृत प्रतीत होता है। जैसे-

हस्ताकृष्टविलोलकेशवसना दुःशासनेनाज्ञया
पाञ्चाली मम राजचक्रपुरतो गौर्गौरिति व्याहृता।
तस्मिन्नेव स किं नु गाण्डिवधरो नासीत् पृथानन्दनो
यूनः क्षत्रियवंशजस्य कृतिनः क्रोधास्पदं किं न तत् ।।[7]

दुर्योधन की इस दम्भोक्ति में काकु का दर्शन होता है। जहाँ दुर्योधन जयद्रथ की माता दुःशाला को सान्त्वना देते हुए कहता है कि क्या जब द्रौपदी के भरी सभा में केश और वस्त्रों को खींचा जा रहा था तब गाण्डीवधारी कुन्तीपुत्र

अर्जुन वहाँ नहीं था क्या? क्षत्रिय कुलोत्पन्न शस्त्रनिपुण युवक के लिए वह कोप का अवसर नहीं था क्या? यहाँ काकूक्ति द्वारा अर्थ आ रहा है कि इतना सब कुछ हो जाने पर भी गाण्डीवधारी अर्जुन ने कुछ नहीं किया तो अब क्या करेगा? भीम की काकूक्तियाँ उसके चरित्र को गढ़ने में, उसके वीरत्व को प्रकट करने में, सहृदयों को आह्लादित करने में, भाषा में रोचकता के विन्यास में, द्रौपदी के प्रतिशोध की पीड़ा को शान्त करने आदि में सहायक सिद्ध होती हैं। जैसे-

युष्मान् ह्रेपयति क्रोधाल्लोके शत्रुकुलक्षयः।
न लज्जयति दाराणां सभायां केशकर्षणम्।।[8]

उक्त पद्य में भीम सहदेव से कहता है कि शत्रुकुलनाश के बारे में सुनकर लज्जा आती है किन्तु पाण्डव वधू के भरी सभा में केशकर्षण देखने से लज्जा नहीं आती है। यहाँ पर काकूक्ति द्वारा भीम की प्रतिशोधरूपी अग्नि का उद्दीपन हो रहा है। दुर्योधन की गर्वोक्तियाँ नाटक में ओजोगुण संचार में सहायक सिद्ध होती हैं। जैसे-

एकेनापि विनाऽनुजेन मरणं पार्थः प्रतिज्ञातवान्
भ्रातॄणां निहते शतेऽभिलषिते दुर्योधनो जीवितुम्।
तं दुःशासनशोणितासनमरिं भिन्नं गदाकोटिभिः
भीमं दिक्षु न विक्षिपामि कृपणः सन्धिं विदध्याम्यहम्।।[9]

उक्त पद्य में काकु द्वारा दुर्योधन यह स्पष्ट कर रहा है कि एक तरफ युधिष्ठिर ने प्रतिज्ञा की है कि एक भी अनुज के बिना में जीवित नहीं रहुंगा, वहीं दूसरी तरफ मैं अपने 100 भाईयों के मृत्युमुख में जाने पर जीवित रहूँ। दुःशासन का रक्तपान करने वाले भीम को गदा के करोड़ो प्रहार से छिन्न-भिन्न करके दिशाओं में क्यों न फेंक दूं। दीन होकर मैं सन्धि नहीं करुंगा। यहाँ पर दुर्योधन की काकूक्ति सहृदयसमाज को आह्लादित कर रही है। इस प्रकार भट्टनारायण ने इस नाटक में अनेकविध काकु के प्रयोगों से सुन्दर एवं विचित्र काकु एकावली का सृजन किया है।

चमत्काराधायक भट्टनारायणोक्त काकु - भट्टनारायण ने काकुप्रयोग द्वारा वेणीसंहार को चमत्कार पूर्ण बना दिया है। उनका काकुप्रयोग काव्यशास्त्रियों को आनन्दित करने वाला, काकुध्वनि द्वारा रमणीयता का सृजन करने वाला, गुणीभूतव्यङ्ग्य के काक्वाक्षिप्त भेद से सहृदयों के हृदय को झंकृत करने वाला है। इसलिए प्रायः

अनेक आचार्यों ने भट्टनारायण के ही पद्यों को गुणीभूतव्यङ्ग्य के उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है।

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरुः
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन।।[10]

काकु से प्रभावित होकर काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के पञ्चमोल्लास में काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य के उदाहरण के रूप में इस पद्य को स्थान दिया है।[11]

वाच्य के निषेध के साथ ही व्यङ्ग्यार्थ का बोध काक्वाक्षिप्त का उत्कृष्ट उदाहरण के रूप मे साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने भी इस पद्य को उद्धृत किया है।[12]

ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन काकु के द्वारा अर्थान्तर प्रतीति को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि व्यङ्ग्यार्थ वाच्यसिद्धि हेतु अनुगमन करने अथवा काकु के द्वारा आक्षिप्त होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है। यथा -

अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता।।[13]

इस काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए ध्वन्यालोककार भट्टनारायण की निम्न पंक्ति को उल्लिखित करते हैं, जहाँ भीम कहता है कि धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे जीवित रहते हुए स्वस्थ रहें -

स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः।[14]

यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ जो काक्वाक्षिप्त है कि 'भीम के जीवित रहते धृतराष्ट्र के पुत्र कुशल से नहीं रह सकते' यह वाच्य का अनुगामी बन जाने से गुणीभूत व्यङ्ग्यरूप में शोभायमान हो रहा है। ऐसे अनेक उद्धरणों द्वारा भट्टनारायण ने वेणीसंहार को सुसज्जित किया है।

काकुध्वनि के अन्तर्गत वाच्य की सिद्धि होने के उपरान्त व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। यह चमत्काराधायक, सौन्दर्यवर्धक, रमणीयतोद्भावक, सहृदय हृदयाह्लाद कारक, प्रौढिपरिचायक होता है एवं काक्वाक्षिप्त से भिन्न रहता है। जिसका विन्यास आचार्य मम्मट काव्यप्रकाश के तृतीयोल्लास में करते हैं। उसके

आदर्शरूप को सहृदयसमाज के सम्मुख उपस्थापित करने के लिए भट्टनारायण का निम्न पद्य उद्धृत करते हैं -

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्ध सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितिमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु।।[15]

उक्त पद्य में भीम कहता है कि भरी सभा में द्रौपदी को उस अवस्था में देखकर भी अग्रज युधिष्ठिर के साथ चिरकाल तक हमने ही वन में वास किया एवं अनुचित कार्यों को करते हुए राजा विराट के भवन में अनुचित अवस्था में वास किया। फिर भी अग्रज मुझ पर खिन्न होते हुए खेद करते हैं कौरवों पर नहीं। उक्त पद्य में वाच्यार्थ की प्रतीति के बाद विलम्ब से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने के कारण यहाँ काकुध्वनि विद्यमान है। जो नाटक को चमत्काराधायक बनाने में सक्षम है।

काकुवक्रोक्ति अलङ्कार - आचार्य मम्मट काव्यप्रकाश के नवम उल्लास में शब्दालङ्कारों का विन्यास करते हुए सर्वप्रथम वक्रोक्ति अलङ्कार का विवेचन करते हैं। उनके अनुसार श्लेष और काकु के भेद से यह अलङ्कार दो प्रकार का हो जाता है। वक्ता जिस अर्थ को केन्द्र में रखकर कोई वाक्य कहता है, श्रोता उसके अन्य अर्थ की कल्पना कर लेता है वहाँ काकु वकोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे-

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।।[16]

आचार्य मम्मट काकुवक्रोक्ति अलङ्कार के सम्यग् रूप को सहृदयजनों के सम्मुख उपस्थापित करने के लिए वेणीसंहार का निम्न पद्य उद्धृत करते हैं -

भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम्।
पतितं किङ्किणी क्वाणबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ।।[17]

वेणीसंहार के द्वितीयांक में कञ्चुकी कहता है, कि भयंकर मरुत् ने तोड़ दिया है। किन्तु यहाँ दुर्योधन समझता है, कि वायुपुत्र भीम ने तोड़ दिया। इस प्रकार यहाँ पर भट्टनारायण के द्वारा सृजित काकु वक्रोक्ति अलङ्कार काव्य को अलंकृत कर रहा है।

रसाभिव्यञ्जिका काकु - भरत मुनि नाट्यशास्त्र में काकु का विन्यास उन्नीसवे

अध्याय में करते हैं। जहाँ काकु के दो भेदों का उल्लेख है। साकांक्षकाकु एवं निराकांक्षकाकु।

द्विविधा काकुः साकांक्षा निराकांक्षा चेति।
वाक्यस्य साकांक्षनिराकांक्षत्वात् ।
अनियुक्तार्थकं वाक्यं साकांक्षमिति संज्ञितम्।
नियुक्तार्थन्तु यद्वाक्यं निराकांक्षं तदुच्यते।।[18]

वह वाक्य जहाँ पूर्णरूप से अपना अर्थ प्रकट होने के बाद भी आकांक्षा बनी ही रहती है साकांक्षकाकु कहलाता है। वह वाक्य जो अपने पूर्ण अर्थ को प्रकट कर देता है और आकांक्षा समाप्त हो जाती है उसे निराकांक्षकाकु कहते हैं। वेणीसंहार नाटक में कवि ने इन दोनों ही काकु का विस्तार से प्रयोग किया है। जैसे साकांक्षकाकु का उदाहरण है- यहाँ अश्वत्थामा कर्ण से कटु उक्तियों के द्वारा कहता है कि क्या मेरे शस्त्र तुम्हारे तुल्य गुरु शाप से शक्तिशून्य हो गये है? क्या मैं तुम्हारी तरह इस समय युद्ध छोड़ कर चला आया हूँ? क्या में बंदीचारणों के सूतवंश में हुआ हूँ? जो तुच्छ शत्रुओं के द्वारा किये गये अपमान का आंसुओं से प्रतिकार करूंगा न कि शस्त्र से।[19] यहाँ प्रश्न मात्र से उत्तर की आकांक्षा प्रतीत होने से यह साकांक्षकाकु का यह उदाहरण है। निराकांक्ष काकु का उदाहरण है- प्रथमांक में भीम सहदेव से कहता है, कि मुझ बालक की कौरवों के साथ बचपन से ही दुश्मनी है, जिसमें अन्य कोई दूसरा कारण नहीं है। अतः भीम क्रोध से सन्धि को तोड़ रहा है आप सब इसे जोड़ें।[20] यहाँ पर काकु द्वारा आकांक्षा शान्त होने से निराकांक्ष काकु है।

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि भाव और रसानुकूल काकु के प्रयोग का निर्देश करते हुए कहते हैं कि हास्य, शृङ्गार और करुण रस में विलम्बितकाकु, वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में दीप्ति काकु एवं भयानक और बीभत्स रसों में द्रुत और नीच काकु का प्रयोग श्रेयस्कर होता है। जैसे -

हास्यशृङ्गारकरुणेष्विष्टा काकुर्विलम्बिता।
वीररौद्राद्भुतेषूच्या दीप्ता वापि प्रशस्यते।।
भयानके स बीभत्से द्रुता नीचा च कीर्तिताः।
एवं भावरसोपेता काकुः कार्या प्रयोक्तिभिः।।[21]

वेणीसंहार नाटक में भट्टनारायण ने रसभावानुसारि काकु स्वर का प्रयोग भरतमुनि के मत में किया है। जैसे द्वितीयांक में भानुमती एवं दुर्योधन के शृङ्गार[22] एवं तृतीयांक में द्रोण की मृत्यु का समाचार सुनकर अश्वत्थामा की करुण रसाभिव्यञ्जक उक्तियाँ[23] विलम्बित काकु स्वर से अनुप्राणित हैं। तृतीयांक में अश्वत्थामा की रौद्ररसाभिव्यिञ्जक उक्तियाँ[24] एवं पञ्चमांक में वीररसाभिव्यञ्जक भीम की उक्तियाँ[25] दीप्ति काकु द्वारा अभिव्यञ्जित एवं तृतीयांक के प्रारम्भ में राक्षसी और राक्षस की बीभत्सरसाभिव्यञ्जक उक्तियाँ[26] द्रुत काकु स्वर से जीवन्त हो रहीं हैं। जो इस प्रकार काकु रस व्यञ्जना में सहायक प्रतीत होती हैं।

निष्कर्ष के रूप में ये तथ्य प्रमाणित होते हैं कि भट्टनारायण काकु के प्रयोग में निपुण हैं। वह अनेक प्रकार से काकु का प्रयोग करते हैं। उनके द्वारा वेणीसंहार में काकु द्वारा वस्तुनिबन्धन चमत्कारजनक, पात्रचरित्रचित्रण दिव्यतावह, रसाभिव्यञ्जना विलम्बित दीप्ति एवं द्रुतरूप काकु से चमत्कृत, संवाद रोचकतायुक्त, भाषा रमणीय, काकुध्वनि, काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य एवं काकु वक्रोक्ति अलंकार आदि से अलङ्कृत होने से वह सर्वविधसौन्दर्य का अनुगमन से हृदयावर्जक सौन्दर्य की प्राणमयी मूर्ति की तरह शोभायमान हो रहा है।

संदर्भ -

1. *काव्यप्रकाश- 3/21-22, वृत्ति पृ.99*
2. *साहित्यदर्पण- 2/16, वृत्ति पृ.44*
3. *अमरकोश- 1/06/12, पृ.30*
4. *संस्कृत हिन्दी कोश- पृ. 262*
5. *काव्यप्रकाश 3 / 21-22, पृ.99*
6. *काव्यप्रकाश- 9/78, पृ.433*
7. *वेणीसंहार- 2/25, पृ.94*
8. *वेणीसंहार- 1/17, पृ.29*
9. *वेणीसंहार- 5/7, पृ.209*
10. *वेणीसंहार- 1/15, पृ.25*
11. *काव्यप्रकाश- 5/45, वृत्ति, पृ.233*

12. साहित्यदर्पण- 4/13-14, वृत्ति, पृ.152

13. ध्वन्यालोक- 3/39, पृ.298

14. वेणीसंहार- 1/8, पृ.13

15. वेणीसंहार-1/11, पृ.18

16. काव्यप्रकाश 9/78, पृ.433

17. वेणीसंहार 2/24, पृ.91

18. नाट्यशास्त्र- 19/44, पृ.360

19. वेणीसंहार- 3/.35, पृ.148

20. वेणीसंहार- 1/10, पृ.16

21. नाट्यशास्त्र- 19/58-59, पृ.366

22. वेणीसंहार- 2/16, पृ.77

23. वेणीसंहार- 3/12, पृ.121

24. वेणीसंहार- 3/25, पृ.134

25. वेणीसंहार- 5/32, पृ.235

26. वेणीसंहार- 3/1-3, पृ.102-104

29

वेणीसंहार में व्यंजकता

तारेश कुमार शर्मा

"काव्यस्यात्मा ध्वनिः"- आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य की आत्मा (जीवातु तत्त्व) ध्वनि है। ध्वनि तत्त्व क्या है? ध्वनि किसे कहते हैं? इसका समाधान करते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि जहाँ पर वाच्य अपने स्वरूप को तथा वाचक अपने अर्थ को गौण बनाकर व्यंग्य अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को ध्वनि कहते हैं-

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।[1]

अभिनवगुप्त ध्वन्यालोक में ध्वनि की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वाचक शब्द भी ध्वनि है और वाच्यार्थ भी ध्वनि है, क्योंकि दोनों का व्यञ्जकत्व ध्वनन व्यापार होता है। विभाव, अनुभाव आदि के संवलन से जो सम्मिलित होता है वह व्यंग्यार्थ भी ध्वनि है, क्योंकि वह ध्वनित किया जाता है। शब्द का व्यापार भी ध्वनि है जो अभिधा रूप न होकर आत्मभूत तत्त्व है। काव्य नाम वाला पदार्थ भी ध्वनि है क्योंकि उसमें ध्वनि के उक्त चारों प्रकार निहित रहते हैं।

"तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। सम्मिश्रयते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः ध्वन्यते इति कृत्वा शब्दनं शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूप, अपित्वात्मभूतः सोऽयं ध्वननं ध्वनिः काव्यमिति व्यपदेशश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः। उक्तः प्रकारः ध्वनिचतुष्टमयत्वात्।[2]

इस प्रकार आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त दोनों ने ही वाच्य, शब्द, व्यंग्यार्थ, व्यञ्जनाव्यापार तथा इन चारों से युक्त काव्य इन पाँचों को ध्वनि नाम से अभिहित किया है, किन्तु इन पाँचों में उन्होंने काव्य को ही प्रमुख माना है। उनका

कहना है कि काव्य में शब्द भी होता है, वाच्यार्थ भी होता है, व्यंग्यार्थ भी होता है, व्यञ्जना व्यापार भी होता है और इन सबका समूह ही काव्य होता है, अतः मुख्य रूप से काव्य को ही ध्वनि कहते हैं-

अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम्। व्यङ्ग्योऽपि वा ध्वन्यते इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।[3]

वस्तुतः आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के मुख्यतः तीन भेद स्वीकार किये हैं- वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि और रस ध्वनि। यथोक्तम्-

''एवं वस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिधा ध्वनिः।''

इनमें वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि की अपेक्षा रसध्वनि श्रेष्ठ है और यही काव्य की आत्मा है। इन तीनों ध्वनियों को आधार बनाकर वेणीसंहार में निहित ध्वनि तत्त्व की मीमांसा करते हैं तो हम पाते हैं कि कवि भट्टनारायण ने अपने इस अनुपम ग्रन्थ में तीनों प्रकार की ध्वनियों का सम्यक् प्रयोग किया है।

जहाँ पर वाच्यार्थ की प्रतीति के बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है उस संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का पूर्वापरक्रम ज्ञान बना रहता है। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य की शब्दशक्ति उद्भव ध्वनि के वस्तु और अलंकार ध्वनि ये दो भेद होते हैं। वेणीसंहार में शब्दशक्त्युद्भव वस्तु ध्वनि का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशामदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनी पृष्ठे।।[4]

सुन्दरपक्ष सम्पन्न, मधुरालापी, दिशाओं को अलङ्कृत करने वाले, हर्ष के कारण उद्दाम क्रीडा करने वाले हंस समय (शरद-ऋतु) के कारण भूतल पर उतर रहे हैं। अन्य दूसरे अर्थ में- उत्तम सेना अथवा सहायक वाले, मधुरभाषी, दिशाओं को वश में करने वाले, अहंकार के कारण उच्छृंखल आचरण वाले, धृतराष्ट्र के पुत्र (दुर्योधनादि) मृत्यु के कारण भूतल पर मरकर गिर रहे हैं। प्रस्तुत श्लोक में श्लेषालङ्कार तो इसलिए नहीं कह सकते कि यहाँ शरदऋतु वर्णन का प्रकरण है। दोनों अर्थ अवाच्य होने के कारण दीपकालङ्कार भी नहीं है। अतः यहाँ पर वस्तु मात्र शब्दपरिवृत्यसहरूप शब्द से प्रधानरूप में अवभासित होने के कारण शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि है।

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः।।[5]

शत्रुओं के शान्त होने के कारण विद्वेष रूपी अग्नि को शान्त कर लेने वाले पाण्डुपुत्र (युधिष्ठिरादि) श्रीकृष्ण के साथ आनन्द करें। अनुरागपूर्वक (पाण्डवों) को भूमि प्रदान करने वाले विनष्ट कलह वाले कौरव भी सेवकों के सहित स्वस्थ हों। अन्य दूसरे साङ्केतिक अर्थ में- शत्रुओं के विनष्ट होने के कारण शत्रुता रूपी अग्नि को शान्त कर लेने वाले, पाण्डव (युधिष्ठिर) श्रीकृष्ण के साथ आनन्द करें। (अपने) रक्त से पृथ्वी को अलङ्कृत करने वाले, क्षत-विक्षत शरीर वाले कौरव भी सेवकों के सहित स्वर्गस्थ हों। यहाँ पर व्यंग्यार्थ से अभिन्न ''रक्तप्रसाधित, क्षतविग्रह'' आदि श्लिष्ट वचनों के प्रयोग से विशेषण कृत सादृश्य की प्रतीति होती है। किन्तु यहाँ द्वितीय अर्थ की प्रतीति के बिना उपमा का बोध नहीं होगा और उसके बोध होने पर ही शब्दशक्तिमूलक ध्वनि होती है। यद्यपि उपमानभूत द्वितीय अर्थ के वस्तुरूप होने पर भी व्यंग्यत्व है, तथापि उपमान के द्वारा ही उपमेय के उत्कर्ष से अलंकार ध्वनि होती है। प्रकरण के द्वारा अभिधा शक्ति प्रथम अर्थ नियन्त्रित हो जाने से श्लिष्ट वचनों के प्रयोग से द्वितीय अर्थ की व्यंग्यता होगी-

जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु दूरमप्रोषितेषु च।
पाञ्चालराजतनया वहते यदिमां दशाम्।।[6]

पाण्डवों के जीवित रहते तथा दूर परदेश न जाने पर भी पाञ्चाल की राजकुमारी जो इस (हीन) दशा को धारण कर रही है (सो बताने की क्या आवश्यकता?)

प्रस्तुत पद्य का भाव यह है कि जो दशा स्वामी से रहित अथवा प्रोषितभर्तृका (जिसका पति परदेश में हो ऐसी) स्त्री की हो सकती है, वही दशा द्रौपदी की है। यहाँ पर विभावना और विशेषोक्ति का सन्देहसङ्कर अलंकार है। वस्तुतः यहाँ पर व्यंग्यार्थ के सन्देह से ध्वनि साङ्कर्य है।

दिष्ट्यार्थश्रुतविप्रलम्भजनितक्रोधादहं न गतो,
दिष्ट्या नो परुषं रुषार्धकथने किञ्चिन्मया व्याहृतम्।
मां प्रत्याययितुं विमूढहृदयं दिष्ट्या कथाऽन्तं गता,
मिथ्याषितयानया विरहितं दिष्ट्या न जातं जगत्।।[7]

सौभाग्य से मैं आधी सुनी हुई (बात से प्रतीत) वञ्चना से उत्पन्न

क्रोधवश (भानुमती के पास) नहीं चला गया, सौभाग्य से आधे कहने पर क्रोध से मैंने कोई कटुवचन नहीं कहा, सौभाग्य से मुझ मूर्ख को विश्वास दिलाने के लिए कथा समाप्ति पर पहुँच गई, सौभाग्य से संसार मिथ्या दोषारोपण से युक्त इस (भानुमती) से रहित नहीं हुआ।

प्रस्तुत पद्य का भाव यह है कि उसकी सारी कथा सुनने पर मुझे विश्वास हो गया है कि वह कुलटा नहीं है, नहीं तो मैं उसे मार डालता अथवा वह मिथ्या दोषारोपण के कारण प्राण त्याग देती। यहाँ अप्राकरणिक कथन (स्वप्न में दिखाई देना) के द्वारा प्राकरणिक (मिथ्यादोषारोपण रूप प्राण त्यागना) विषय का आक्षेप होने से अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार ध्वनि है -

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं,
मनुजपशुभिर्निमर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृद्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्।।[8]

नर पशुओं के सदृश मर्यादा का पालन न करने वाले, हाथ में हथियार लिए हुए आप लोगों ने यह महान् (गुरुहत्या रूप) पातक किया है, करने की अनुमति दी है अथवा देखा है। यह मैं नरकासुर के शत्रु कृष्ण, भीम तथा अर्जुन के साथ उनके (धृष्ट्द्युम्न आदि के) रक्त, चर्बी और मांस से दिशाओं को बलि प्रदान करता हूँ। इस श्लोक में अश्वत्थामा के क्रोध का अभिव्यञ्जना है। जहाँ पर अपकारी भीम, अर्जुन आदि आलम्बन विभाव हैं, पितृहत्या, अस्त्रादि धारण करना उद्दीपन विभाव है, प्रतिज्ञा करना अनुभाव है, गर्व व्यभिचारी भाव है और क्रोध स्थायी भाव है। यहाँ विभावादि के द्वारा सामाजिक के हृदय में क्रोध स्थायी भाव रौद्ररस के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है, अतः यह रौद्ररस का उदाहरण है। यहाँ रसध्वनि ध्वनित हो रही है।

(भीमसेन सहदेव के द्वारा युधिष्ठिर से कहला रहा है)-

युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं,
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
नद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव।।[9]

अर्थात् मैं आपकी आज्ञा के उल्लंघन के जल में डूब गया हूँ, मैंने आपकी आज्ञा में स्थित रहने वाले अनुजों के बीच में भी निन्दा प्राप्त कर ली है। अब मैं क्रोधपूर्वक गदा उठाकर उसे रुधिर से लाल करता हुआ कौरवों का नाश करने वाला हूँ। आज एक दिन के लिए आप मेरे बड़े भाई नहीं है और न मैं आपका आज्ञाकारी (विधेय) हूँ।

प्रस्तुत श्लोक में धिक्कार, अपमान आदि से उत्पन्न होने वाले अभिनिवेश के कारण 'अमर्ष' नामक सञ्चारीभाव है। हस्त सञ्चालन, गदा उठाना, तर्जना और ताड़ना आदि अनुभाव हैं। 'अमर्ष' वीर रस का सञ्चारी भाव है। अतः यहाँ वीररस है।

प्रतापविनयादिभिर्विभावितः करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृतिहर्षामर्ष-स्मृतिमति- वितर्क प्रभृतिभिर्भावित उत्साह स्थायी स्वदते भावकमनोविस्तारानन्दाय प्रभवतीत्येष वीरः।[10]

प्रताप विनय आदि (विभावों) के द्वारा विभावित होकर, दया, युद्ध, दान आदि (अनुभावों) के द्वारा अनुभावित होकर तथा गर्व, धृति, हर्ष, अमर्ष, स्मृति, मति, वितर्क इत्यादि (व्यभिचारी भावों) के द्वारा भावित होकर उत्साह नामक स्थायी भाव का आस्वादन होता है, अर्थात् वह सहृदयों के चित्त का विस्तार करते हुए आनन्द प्रदान करता है; यही वीर रस है -

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्वयक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम्।।[11]

काव्य में रहने वाले रौद्र आदि रस दीप्ति के करण लक्षित होते हैं, उस दीप्ति के व्यञ्जक शब्द और अर्थ को आश्रयण करके ओजस् गुण व्यवस्थित हैं। रौद्र आदि रस अत्यन्त दीप्ति या उज्ज्वलता को उत्पन्न करते हैं, इसलिए लक्षणा से उन्हें ही 'दीप्ति' कही जाती है। उसका प्रकाशन करने वाला शब्द दीर्घ समास की रचना से अलङ्कृत वाक्य है। लोचनकार के अनुसार दीप्ति प्रतिपत्ता या सहृदय के हृदय में विकास, विस्तार और प्रज्वलन की अवस्था को आहित करती है। वह मुख्य रूप से 'ओजस्' शब्द से कही जाती है। रौद्र आदि उस दीप्ति के आस्वाद से युक्त है। आस्वाद विशेष एवं कार्य रूप उस दीप्ति से (वे रौद्र आदि रस) अन्य रसों से पृथक् रूप में लक्षित होते हैं। इसलिए कारण में कार्य के उपचार से 'रौद्र' आदि ही

'ओजस्' शब्द के वाच्य हैं। इसलिए 'लक्षित लक्षणा' के द्वारा रौद्र आदि का प्रकाशक शब्द दीर्घसमास की रचना का वाक्य रूप होकर भी दीप्ति कहलाता है। जैसे-

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावबद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः।।[12]

अर्थात् हे देवि! आवर्तन करती हुई दोनों भुजाओं से घुमाई गई प्रचण्ड गदा के अभिघात से सम्यक् प्रकार से चूर्णित उरुयुगल वाले सुयोधन के निकल कर जमे हुए घने शोणित से लाल हाथों वाला भीम तेरे बालों को सँवारेगा।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य की अभिव्यक्ति वर्ण, पद, वाक्य, संघटना और प्रबन्ध से होती है। यहाँ यह बताया गया है कि किस प्रकार के वर्णों से, पदों से, पदों के अवयवों से तथा वाक्यों से रसादि की अभिव्यक्ति होती है। ध्वनिकार ने संघटना व्यञ्जकता का विस्तार से वर्णन किया है। संघटना तीन प्रकार की होती है- असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। यह संघटना गुणों का आश्रय लेकर स्थित होती हुई रसों को अभिव्यक्त करती है। यहाँ आचार्य ने बताया है कि गुणों और संघटनाओं का क्या सम्बन्ध है तथा संघटना का आधार वक्ता, अर्थ, विषय तथा रस की अनुरूपता है। ध्वनिकार के अनुसार रसबन्ध का औचित्य सर्वत्र आवश्यक है।[13] अलक्ष्यक्रमव्यंग्यः संघटनायां भासते ध्वनिरिति।

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता।।[13]

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि संघटना में भी भासित होती है। संघटना तीन प्रकार की होती है। असमासा, मध्यसमासा तथा दीर्घसमासा। रौद्रादिष्वप्यसमासा दृश्यते। यथा-रौद्र आदि में भी असमासा देखी जाती है

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां,
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च प्रतीपः,
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्।।[14]

पाण्डवों की सेनाओं में अपनी बाहुओं का बड़ा अभिमान करने वाला जो शस्त्रधारी है, पाञ्चालों के वंश में जो जो अधिक अवस्था वाला है- अथवा गर्भरूपी शैय्या में स्थित बालक है, जो-जो उस कर्म का द्रष्टा है, और जो-जो युद्ध में मेरे विचरण करने पर विरुद्ध होता है, उस उसका एवं स्वयं संसार के संहारिक का भी क्रोध में अन्धा मैं संहारक होऊँगा।

गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासित वाच्य-प्रतिपादन-समर्थशब्दधर्मा एव।[15]

गुण व्यंग्य विशेष को अवभासित करने वाले वाच्य के प्रतिपादन में समर्थ शब्द के ही धर्म (प्रतिपादन किए गए) हैं।

वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित्।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते।।[16]
क्वचिद्वाच्यप्रबन्धानपेक्षया वक्त्रौचित्यादेव रचनादयः।

कहीं कहीं वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध के औचित्य से रचना, समास और वर्णों का अन्य प्रकार से प्रयोग भी इष्ट है। कहीं कहीं पर तो वाच्य और प्रबन्धगत औचित्य के अभाव में भी केवल वक्तृगत औचित्य के कारण वर्ण, समास, रचना आदि का अन्यथा अन्य प्रकार से प्रयोग होता है। जैसे-

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः,
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः,
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽसौ।।[17]

अत्र हि न वाच्य क्रोधादिव्यञ्जकम्। अभिनेयार्थं च काव्यमिति तत्प्रतिकूला उद्धतां रचनादयः। वक्ता चात्र भीमसेनः।

मन्थन से क्षुब्ध समुद्र के जल से व्याप्त कन्दरा वाले चलते हुए मन्दराचल की ध्वनि के समान गम्भीर, कोणाघात के समय गरजते हुए प्रलयकालीन मेघसमूह के परस्पर संघर्ष के समान भयंकर द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत और कौरव कुल के नाशरूपी उत्पात का सूचक ध्वनि युक्त वायुरूप हमारे सिंहनाद की प्रतिध्वनि के समान यह दुन्दुभि किसने बजाई? यहाँ पर वाच्य, क्रोधादि का व्यञ्जक नहीं है और काव्य अभिनेयार्थ है, इसलिए दोनों के प्रतिकूल अर्थात् वाच्य एवं नाटकरूप प्रबन्ध के प्रतिकूल केवल वक्ता (भीमसेन) के औचित्य के कारण ही यहाँ सङ्घटनादि

(वर्ण, वृत्ति और रचना आदि) है। क्योंकि यहाँ वक्ता उद्धत भीमसेन है। प्रबन्ध के रसादिव्यञ्जक होने में अन्य मुख्य कारण यह है कि मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श, निर्वहण नामक सन्धियों और उपक्षेप आदि उनके अङ्गों का रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा से जोड़ना, जैसे-''वेणीसंहार'' नाटक में 'विलास' नामक प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग का प्रकृतरस के निबन्धन में प्रतिकूल भी दूसरे अङ्क में केवल भरत के मत के अनुसरण की इच्छा से घटन है।[18] इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए लोचनकार ने लिखा है-

समीहा रतिभोगार्था विलासः परिकीर्तितः।

इति प्रतिमुखसन्ध्यङ्गविलासलक्षणे। रतिभोगशब्द आधिकारिकर-सस्थायिभावोपव्यञ्जक- विभावाद्युपलक्षणार्थत्वेन प्रयुक्तः, यथा तत्त्वं नाभिगतार्थ इति, प्रकृतो ह्यत्र वीररसः। उद्दीपन इति।[19]

रतिभोग की इच्छा को 'विलास' कहा जाता है। यह प्रतिमुखसन्धि के अङ्ग 'विलास' के लक्षण में। 'रतिभोग' शब्द आधिकारिक स्थायी भाव के उपव्यञ्जक विभावादि के उपलक्षक रूप में प्रयुक्त है, (परन्तु वेणीसंहार के रचयिता ने) तत्त्वार्थ को नहीं समझा। यहाँ (वेणीसंहार में) प्रकृत वीर रस है। उद्दीपन-विभावादि के परिपूर्ण द्वारा। ध्वनिकाव्य का विस्तार से वर्णन करके आचार्य आनन्दवर्धन ने गुणीभूतव्यंग्य काव्य की व्याख्या की है। वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ का अतिशय होने पर ध्वनिकाव्य होता है और अतिशय न होने पर गुणीभूतव्यंग्य काव्य होता है। ध्वनिकार का इस प्रसंग में यह भी कथन है कि यदि गुणीभूतव्यंग्यकाव्य की योजना रसादि के तात्पर्य से की जाती है, तो यह भी ध्वनि रूप होता है -

अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता।।[20]

अर्थात् काकु से जो यह अर्थान्तर की गति देखी जाती है वह व्यंग्य के गुणीभाव होने पर इस प्रकार का आश्रयण करती है। इस सन्दर्भ में लोचनकार स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणान्तरमाह-अर्थान्तरेति। 'कक लौल्ये' इत्यस्य धातोः काकुशब्दः। तत्र हि साकाङ्क्षनिराकाराकाङ्क्षादिक्रमेण पठ्यमानोऽसौ शब्दः प्रकृतार्थातिरिक्तमपि वाञ्छतीति लौल्यमस्याभिधीयते। यदि वा ईषदर्थे कुशब्दस्तस्य

कादेशः। तेन हृदयस्थवस्तुप्रतीतेरीषद् भूमिः काकुः तया याऽर्थान्तरगतिः स काव्यविशेष इमं गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारमाश्रितः। अत्र हेतुर्व्यङ्ग्यस्य तत्र गुणीभाव एव भवति। अर्थान्तरगतिशब्देनात्र काव्यमेवोच्यते।[21]

अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य का अन्य उदाहरण कहते हैं- और 'काकु'-'कक लौल्ये' इस धातु का 'काकु' शब्द है। वहाँ साकांक्ष और निराकांक्ष आदि क्रम से पढ़ा गया वह शब्द प्रकृत अर्थ से अतिरिक्त की भी इच्छा करता है, यह इसका 'लौल्य' प्रकट करता है। अथवा 'ईषत्' अर्थ में 'कु' शब्द है, उसका 'का' आदेश है। इसलिए हृदयस्थ वस्तु की प्रतीति की 'ईषद्' भूमि 'काकु' है; उससे जो अर्थान्तर की प्रतीति है वह काव्यविशेष इस गुणीभूतव्यंग्य के प्रकार का आश्रयण करता है। यहाँ हेतु वहाँ व्यंग्य का गुणीभाव ही होता है। 'अर्थान्तरगति' शब्द से यहाँ काव्य ही कहा गया है। जैसे-

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः,
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्,
स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः।।[22]

अर्थात् लाक्षागृह में अग्नि, विषाक्त अन्न तथा (द्यूतक्रीडार्थ) सभा में प्रवेश द्वारा हमारे प्राण एवं धन संग्रह पर प्रहार करके और द्रौपदी के वस्त्र एवं केशों को खींचकर धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे जीवित रहते स्वस्थ रहें (यह असंभव है)।

'स्वस्थ' हो जाएं 'मेरे जीते जी' धार्तराष्ट्र इस साकांक्ष, दीप्त, गद्गद्, तार, प्रशमन और उद्दीपन से चित्रित काकु 'यह अर्थ असम्भाव्य है और अत्यन्त अनुचित है' इस व्यंग्य अर्थ का स्पर्श करती हुई उसी के द्वारा उपकृत होती हुई व्यंग्य से उपस्कृत वाच्य ही क्रोध के अनुभावरूपता का आधान करती है। अतः यहाँ प्रतीयमान अर्थ की अपेक्षा वाच्य का अतिशय होने से गुणीभूत काव्य है। अथापि च-

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्,
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु,
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन।।[23]

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम्।

क्या मैं क्रोध से सङ्ग्राम (युद्धभूमि) में समस्त (सौ) कौरवों का नाश न करूँ? क्या मैं दुःशासन के वक्षःस्थल (उरस्तः) से उसका रक्तपान न करूँ? क्या मैं गदा से दुर्योधन की जंघाएँ नहीं तोड़ूँ? (संचूर्णयामि=चूर्ण करूँ?) आपके राजा (युधिष्ठिर) किसी शर्त के साथ (पणेन) भले ही सन्धि कर लें (मैं तो कौरवों का वध अवश्य करूँगा)। यहाँ पर 'अवश्य ही नाश करूँगा' यह व्यङ्ग्य (काकु से आक्षिप्त होने के कारण) वाच्य-निषेध (न मथ्नामि) के साथ-साथ स्थित है।

यह व्यंग्यार्थ 'नञ्' काकु के द्वारा आक्षिप्त है और 'न मथ्नामि' अर्थात् मथन-निषेध रूप वाच्यार्थ के साथ ही शीघ्रता से प्रतीत होता है। क्योंकि 'काकु' के बिना वाच्यार्थ की अबाधित रूप से प्रतीति नहीं होती, किन्तु यह वाच्यसिद्ध्यङ्ग से भिन्न है, क्योंकि वाच्य सिद्ध्यङ्ग तो पदार्थ की सिद्धि कराता है और काकु से आक्षिप्त व्यंग्य सिद्धरूप वाच्यार्थ के बाध को दूर करता है। अतः यहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य है और जहाँ पर काकु के द्वारा व्यंग्यार्थ की विलम्ब से प्रतीति होती है, वहाँ ध्वनि काव्य होता है। ध्वनिकार का कथन है कि काकु के द्वारा आक्षिप्त व्यंग्यार्थ के अप्रधान होने के कारण काक्वाक्षिप्त व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य ही अधिक रमणीय होता है अतः वहाँ गुणीभूतव्यंग्य हो जाता है। जैसा कि अभिनवगुप्त ने ''मथ्नामि कौरवशतम्' आदि उदाहरण में काक्वाक्षिप्त व्यंग्य के गुणीभूत होने पर वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार देखा जाता है। उक्त उदाहरण में काकु (दीप्त, तार, गद्गद् उच्चारण) के द्वारा 'न मथ्नामि' में 'मथ्नामि-निषेध रूप वाच्यार्थ का निषेध 'मथ्नाम्येव' अर्थात् 'अवश्य मारूँगा' अभिव्यक्त हो रहा है और उस व्यंग्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्योपस्कृत वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारजनक प्रतीत हो रहा है। अतः यहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य है।[24]

आचार्य मम्मट काव्यप्रकाश के तृतीय उल्लास में आर्थी व्यञ्जना की अर्थ व्यञ्जकता में काकु वैशिष्ट्य का उल्लेख करते हैं। मम्मट 'काकु' को 'ध्वनि का विकार' मानते हैं (काकुर्ध्वनेर्विकारः)। यथोक्तम्-

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां,
वने व्याधैः सार्धं सुचिरभूषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भ निभृतं,
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु।।[25]

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काक्वा प्रकाश्यते। न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम्। प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः।

राजसभा में पाञ्चालपुत्री द्रौपदी उस प्रकार की बाल और वस्त्र खींचे जाने की) अवस्था को देखकर, फिर वल्कल धारण कर चिरकाल तक व्याधों के साथ वन में रहे और विराट के घर पर अनुचित (पाचकादि) कार्य करते हुए शान्त (चुप) रहे, यह सब देखकर भी युधिष्ठिर (गुरु) खिन्न (दुःखी) मुझ पर ही क्रोध कर रहे हैं, कौरवों पर नहीं।

यहाँ मुझ पर क्रोध करना उचित नहीं है, अपितु कौरवों पर क्रोध करना उचित है, यह 'काकु' से प्रकट हो रहा है। यहाँ पर 'काकु' वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग (साधन) है, इसलिए यहाँ गुणीभूतव्यंग्य है, इस प्रकार की आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रश्न मात्र से ही काकु की विश्रान्ति हो जाती है।

प्रस्तुत श्लोक में काकु के द्वारा व्यंग्यार्थ से आक्षिप्त होने से यह गुणीभूत (अप्रधान) हो गया है। इस प्रकार यहाँ पर काकु के द्वारा आक्षिप्त होने से काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य होना चाहिए। इस शङ्का का समाधान करते हुए मम्मट कहते हैं कि प्रस्तुत उदाहरण में व्यंग्यार्थ को वाच्यसिद्ध्यङ्ग नहीं माना जा सकता; क्योंकि यहाँ प्रश्नमात्र से ही काकु को विश्रान्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि काकु के द्वारा प्रश्न की उद्भावना होने से ''क्या गुरु (युधिष्ठिर) मुझ पर क्रोध करते हैं, कौरवों पर नहीं? यह वाच्यार्थ सिद्ध होता है। तत्पश्चात् काकु के द्वारा 'गुरु (युधिष्ठिर) का मुझ पर क्रोध करना उचित नहीं अपितु कौरवों पर क्रोध करना चाहिए' यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है। इसलिए इसे वाच्यसिद्धि का अंग नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार काकु की विश्रान्ति प्रश्नमात्र में होने से व्यंग्यार्थ आक्षिप्त भी नहीं होता। इस प्रकार यहाँ काकु के द्वारा व्यंग्यार्थ के आक्षिप्त न होने से इसे काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यहाँ व्यंग्यार्थ काक्वाक्षिप्त नहीं है, अपितु प्रधान है। अतः इसे ध्वनि काव्य का उदाहरण मानना चाहिए। (वह ध्वनि) गुणीभूतव्यंग्य के साथ, अलंकारों के साथ और अपने प्रभेदों के साथ सङ्कर और संसृष्टि द्वारा फिर और भी बहुत प्रकार से प्रकाशित होता है जैसा कि ध्वन्यालोकम् में कहा है-

सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते बहुधा।।[26]

अर्थात् वह ध्वनि अपने प्रभेदों से, गुणीभूत व्यंग्य से और वाच्य अलंकारों से संकर और संसृष्टि की व्यवस्था की जाने पर लक्ष्य में बहुत प्रभेदों वाला देखा जाता है। जैसा कि अपने प्रभेद से सङ्कीर्ण, अपने प्रभेद से संसृष्ट, गुणीभूतव्यङ्ग्य से संकीर्ण, गुणीभूत व्यंग्य से संसृष्ट वाच्य अलङ्कारान्तर से संकीर्ण इस प्रकार बहुत प्रकार से ध्वनि प्रकाशित होती है। गुणीभूत व्यंग्य सङ्कीर्ण का एक उदाहरण अवलोकनीय है-

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी,
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः।।[27]

अर्थात् जुए के द्वारा छल करने वाला, लाह (लाख) का बना घर जलाने वाला, वह अभिमानी, द्रौपदी के केश और उत्तरीय को हटाने में चतुर, पाण्डव जिसके दास हैं, दुःशासन आदि सौ भाईयों में बड़ा, अङ्गराज कर्ण का मित्र वह दुर्योधन कहाँ है? बताओ, हम दोनों क्रोध से नहीं, (केवल) देखने के लिए आये हैं।

अत्र ह्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वाक्यार्थीभूतस्य व्यङ्ग्यविशिष्ट-वाच्याभिधायिभिः पदैः सम्मिश्रिता। अतएव च पदार्थाश्रयत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य वाक्यार्थाश्रयत्वे च ध्वनिः सङ्कीर्णतायामपि न विरोधः स्वप्रभेदान्तरवत्। यथाहि ध्वनिप्रभेदान्तराणि परस्परं सङ्कीर्यन्ते पदार्थवाक्यार्थाश्रयत्वेन च न विरुद्धानि।[28]

अर्थात् वहाँ वाक्यार्थीभूत अलक्ष्यक्रमव्यंग्य की व्यंग्यविशिष्ट वाच्य का अभिधान करने वाले पदों के साथ सम्मिश्रता है। इसलिए गुणीभूत व्यंग्य के पदार्थाश्रित होने में और ध्वनि के वाक्यार्थाश्रित होने में सङ्कीर्णता होने पर भी अपने अन्य प्रभेद की भाँति विरोध नहीं है। जैसा कि ध्वनि के अन्य प्रभेद परस्पर सङ्कीर्ण होते हैं और पदार्थ और वाक्यार्थ के आश्रित होने से विरुद्ध नहीं हैं।

लोचनकार इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'कर्ता...' इत्यादि के प्रति पद, प्रति अवान्तर वाक्य और प्रति समास व्यंग्य की उत्प्रेक्षा की ही जा सकती है यह नहीं लिखा है। 'पाण्डव जिसके दास हैं' यह उस (दुर्योधन) की उक्ति का अनुकरण है। वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्यभाव को भी लगा सकते हैं, क्योंकि वाच्य ही क्रोध का उद्दीपक है और ''कृतकृत्य दासों को चाहिए कि स्वामी को अवश्य देखें''

यह अर्थशक्त्युरणनरूपता भी है। दोनों प्रकार से भी चारुत्व के कारण एक पक्ष के ग्रहण में प्रमाण नहीं है। एक व्यञ्जकानुप्रवेश उन्हीं पदों से गुणीभूत व्यंग्य और प्रधानीभूत रस का विभावादि के प्रकार से अभिव्यंजन से होता है अर्थात् जिस कारण इस लक्ष्य में देखा जाता है उस कारण गुणीभूत और प्रधान व्यंग्य दोनों देखे जाने पर भी विरुद्ध ही है, केवल कह देने से श्रद्धा के योग्य नहीं, यह आशंका करके व्यञ्जक भेद से विरोध नहीं है' यह स्पष्ट किया है।[29]

अतः हम कह सकते हैं कि वेणीसंहार के उद्धरणों में ध्वनि के अवान्तर, प्रकारान्तर और अन्य भेदों को देखा जा सकता है। इस ग्रन्थ की महनीयता इस कारण और ज्यादा अभिवृद्धि को प्राप्त करती है जब इसके श्लोकों को काव्य शास्त्र को जानने वाले आचार्यों में अपने काव्यशास्त्रीय विवेचन की मीमांसा में प्रस्तुत किया है। शास्त्रीय लक्षण का उदाहरण बनना निश्चित ही किसी काव्य या नाटक के लिए गौरव की बात है और वह गौरव वेणीसंहार को प्राप्त होता है।

सन्दर्भ -

1. *ध्वन्यालोक, 1/13*
2. *ध्वन्यालोक के 1/13 की वृत्ति लोचन टीका से*
3. *तत्रैव*
4. *वेणीसंहार, 1/6, पृ. 9*
5. *तत्रैव, 1/7, पृ. 11*
6. *तत्रैव, 1/18, पृ. 30*
7. *तत्रैव, 2/13, पृ. 70*
8. *तत्रैव, 3/24, पृ. 133*
9. *वेणीसंहार, 1/12, पृ. 19*
10. *दशरूपक, चतुर्थप्रकाश उद्धरण सं. 72, का वृत्तिभाग, पृ. 385*
11. *ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत (कारिका-9)*
12. *वेणीसंहार, 1/21, पृ. 35*
13. *ध्वन्यालोक, 3/5, पृ. 337*
14. *वेणीसंहार, 3/32, पृ. 143 (ध्वन्यालोक-द्वितीय उद्योत, पृ. 218-224 अवलोकनीय)*

15. *ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत (कारिका 67 का वृत्तिभाग), पृ. 344-351*

16. *काव्यप्रकाश, अष्टमोल्लास (कारिका-77), पृ. 467*

17. *वेणीसंहार, 1/22, पृ. 36*

18. *ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत (कारिका-14 का वृत्तिभाग), पृ. 368-372*

19. *तत्रैव, पृ. 373-374*

20. *ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत (कारिका-38), पृ. 508*

21. *तत्रैव, (लोचनटीका वृत्तिभाग)*

22. *वेणीसंहार, 1/8, पृ. 13 (दशरूपकम्-चतुर्थप्रकाश/388, पृ. 390-91, ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत, पृ. 509*

23. *वेणीसंहार, 1/15, पृ. 25, (ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत, पृ. 511)*

24. *काव्यप्रकाश, पञ्चमोल्लास, पृ. 255*

25. *वेणीसंहार, 1/11, पृ. 18 (काव्यप्रकाश-तृतीयोल्लास, पृ. 109 (आर्थी व्यञ्जना)*

26. *ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत (कारिका 43), पृ. 536*

27. *वेणीसंहार, 5/26, पृ. 228-229*

28. *ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत कारिका 43 का वृत्तिभाग, पृ. 538*

29. *ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत कारिका 43 का लोचनवृत्तिभाग, पृ. 536-539*

30

वेणीसंहार नाटक में औचित्य साधना

शशिकुमार सिंह, नीरज कुमार

संस्कृत साहित्य का काव्य और काव्यशास्त्र सदा से ही सहृयों के रसचर्वणा के विषय रहे हैं। जिसमें अवगाहन करके वह न केवल जीवन की दुरूहता को सुकर करता है अपितु अपना पाथेय भी सिद्ध करता है। इन्ही भाव विचारों से ओत-प्रोत महाकवि भट्टनारायण कृत वेणीसंहार नाटक है जिसमें जहां एक ओर प्रेम, दया और करुणा के चित्र उपस्थापित किये गये हैं वहीं दूसरी ओर छल, प्रपंच, द्यूत, प्रतिकार सदृश वंचनाएं भी निर्मित हैं। यह नाटक तात्कालिक समाज का यथावत् चित्र प्रस्तुत करता है तथा काव्यशास्त्र मर्मज्ञों के आनन्द का कारण भी बनता है। नाटक में कवि ने औचित्यिक प्रयोगों पर विशेष बल दिया है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ औचित्य विचार चर्चा में औचित्य की परिभाषा देते हुए लिखा है-

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।[1]

अर्थात् जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, वह उचित कहलाती है और उचित के भाव को ही औचित्य कहा जाता है। आचार्य ने औचित्य को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुये उसके निम्नलिखित सत्ताईस भेदों की चर्चा किया है- 1. पद, 2. वाक्य, 3. प्रबन्ध, 4. गुण, 5. अलंकार, 6. रस, 7. क्रिया, 8. कारक, 9. लिंग, 10. वचन, 11. विशेषण, 12. उपसर्ग, 13. निपात, 14. काल, 15. देश, 16. कुल, 17. व्रत, 18. तत्त्व, 19. सत्त्व, 20. अभिप्राय, 21. स्वभाव, 22. सारसंग्रह, 23. प्रतिभा, 24. अवस्था, 25. विचार, 26. नाम तथा 27. आशीर्वाद।[2]

वेणीसंहार नाटक में औचित्य के इन सभी भेदों प्रभेदों का भरपूर प्रयोग हुआ है। नाटक में पदौचित्य का एक बहुत ही लालित्यपूर्ण प्रयोग द्रष्टव्य है-

शल्येन यथा शल्येन मूर्च्छितः प्रविशता जनौघोऽयम्।
शून्यं कर्णस्य रथं मनोरथमिवाधिरूढेन।।[3]

इस पद्य में सूत दुर्योधन से कह रहा है कि प्रवेश कर रहे विषैले बाण के समान शून्य मनोरथ जैसा कर्ण से रहित कर्ण के रथ पर आरूढ़ शल्य से यह जन समूह मूर्च्छित हो गया है। पद्य में कवि ने कर्ण के सारथी का नाम शल्य होने से विष बाणों के लिये भी शल्य पद का प्रयोग करता है जिससे पूरा का पूरा पद्य ही चमत्कृत हो गया। इसी प्रकार पदौचित्य का एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है-

भूमौ निमग्नचक्रश्चक्रायुधसारथेः शरैस्तस्य।
निहतः किलेन्द्रसूनोरस्मत्सेनाकृतान्तस्य।।[4]

सूत कहता है कि भूमि में रथ का पहिया धँस जाने पर कर्ण चक्रधारी कृष्ण के द्वारा हाँके जा रहे रथ वाले उस हमारी सेना का विनाश करने वाले शक्रसुत अर्जुन के बाणों से मारे गये। यहाँ पर रथ के पहिए चक्र के सहकार हेतु कवि ने श्री कृष्ण के लिये चक्रायुध पद का प्रयोग करता है जो औचित्यपूर्ण है तथा चमत्कार का जनक भी है। जबकि कृष्ण के लिये अमरकोश में हिरण्यगर्भ आदि उन्तालीस नाम बताये गये हैं।[5] उनमें से कुछ पदो के प्रयोग से छंद भंग भी न होता किन्तु पद्य उतना चमत्कारवर्धक न होता। पदौचित्य के अतिरिक्त वाक्यौचित्य के भी सुन्दर प्रयोग कवि भट्टनारायण करते हैं एक पद्य द्रष्टव्य है-

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाऽभिघात-सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानाऽवनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि! भीमः।।[6]

यहाँ भीमसेन प्रतिज्ञा करते हुये द्रौपदी से कहता है कि हे देवि! चंचल भुजाओं द्वारा घुमाई गई प्रचण्ड गदा के प्रहार से भग्न हुई दोनों जाँघों वाले दुर्योधन के चिकने तथा चिपके हुये घने रुधिर से लाल वर्ण के हाथों वाला भीमसेन तुम्हारे बालों को अलंकृत करेगा।

इस पद्य की अन्तिम पंक्ति भीमसेन द्वारा कहा गया वाक्य ''भीमसेन तुम्हारे बालों को अलंकृत करेगा'' वाक्यौचित्य का उत्तम उदाहरण है, यह वाक्य इस नाटक का बीज वाक्य है जो इस नाटक के नामकरण का भी आधार माना जा

सकता है। इस वाक्य के प्रयोग से पद्य की चारुता में वृद्धि हुई है। अतः इसे वाक्यौचित्य का उदाहरण माना जा सकता है।

वाक्यौचित्य के अलावा नाटक में प्रबन्धौचित्य तथा गुणौचित्य के भी पर्याप्त उदाहरण देखे जा सकते हैं। नाटक में ओज, प्रसाद और माधुर्य तीनों गुणों का यथावसर सुन्दर सन्निवेषण किया गया है चूंकि नाटक वीर रस प्रधान है, अतः ओज गुण की प्रधानता है। आचार्य मम्मट मानते हैं कि वीर रस में रहने वाली चित्त के विस्तार की हेतुभूत दीप्ति ओज है।[7] ओज गुण से युक्त भीम का यह कथन द्रष्टव्य है-

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्-
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन।।[8]

भीमसेन सहदेव को उद्देशित करते हुये कहते हैं कि क्या मैं संग्राम में क्रोधित होकर दुर्योधनादि सौ कौरवों का वध नही कर दूँगा, क्या दुःशासन के वक्षःस्थल से मैं रक्तपान नहीं कर सकूँगा, क्या अपनी गदा के प्रहार से सुयोधन की दोनो जाँघे चकनाचूर नहीं कर डालूँगा जो नृपति (युधिष्ठिर) पाँच गाँव के मूल्य से कौरवों से सन्धि करेंगे। भीम की यह उक्ति ओज गुण से युक्त है तथा लेखक द्वारा नाटक में यह प्रसंग भीम के मुख से कहलवाना औचित्यपूर्ण है।

गुणों के साथ-साथ नाटक में अलंकारों के भी अनेक औचित्यिक प्रयोग परिलक्षित होते हैं। लेखक ने अवस्था और भाव के अनुरूप अलंकारों के प्रयोग में सिद्धता पाई है। नाटक में अलंकारों का प्रयोग बलात् नही किया गया है। लेखक को जहाँ जिस अलंकार की संभावना प्रतीत हुई उसका प्रयोग वहाँ किया गया। वस्तुतः लेखक ने अनेक अलंकारों का औचित्यिक प्रयोग किया है जिनमें से एक पूर्णोपमा अलंकार का औचित्यिक प्रयोग द्रष्टव्य है-

मदकलितकरेणुभज्यमाने विपिन इव प्रकटैकशालशेषे।
हतसकलकुमारके कुलेऽस्मिंस्त्वमपि विधेरवलोकितः कटाक्षैः।।[9]

सूत दुर्योधन से कहता है कि जिस प्रकार मतवाले हाथियों के द्वारा नष्ट किये गये वन में कोई एक मात्र शाल वृक्ष बचा हो, उसी प्रकार पाण्डवों द्वारा सभी

कुमारों के नष्ट किये जाने से एक मात्र बचे हुए इस कौरवकुल में तुम भी दुर्भाग्य की कुदृष्टि से देखे गये हो। यहाँ पर भीम की उपमा एक भयंकर हाथी से की गई है तथा कौरवों की उपमा एक वन से की गई है, जिसमें एक शाल वृक्ष रूपी दुर्योधन अभी बचा हुआ है। उपमा अलंकार के प्रयोग से ही यह पद्य चमत्कृत है। क्योंकि यह उपमा व्यक्ति और अवस्था के अनुरूप प्रयोग की गई है। अलंकारों के अलावा लेखक ने रसों का भी औचित्यिक प्रयोग किया है। नाटक की कथावस्तु वीर रस से अनुप्राणित है। फिर भी दूसरे रसों के प्रयोग में कवि ने सिद्धता पाई है। दुःशासन के युद्ध में मारे जाने पर दुर्योधन विलाप करता है-

युक्तो यथेष्टमुपभोगसुखेषु नैव,
त्वं लालितोऽपि हि मया न वृथाऽग्रजेन।
अस्यास्तु वत्स! त्व हेतुरहं विपत्ते-
र्यत्कारितोऽस्यविनयं न च रक्षितोऽसि।।[10]

दुर्योधन कहता है हे वत्स! तुम्हें निष्फल अग्रज कहलाने वाले मुझ दुर्योधन ने उपभोग सुखों को भोगने का अवसर नहीं दिया तथा न लालन पालन ही किया। बल्कि तुम्हारे इस विपत्ति का मैं ही तो कारण हूँ जो कि तुमसे द्रौपदी को निर्वसना करवाया, पर तुम्हारी रक्षा न कर सका। करुण रसौचित्य का एक दूसरा उदाहरण भी द्रष्टव्य है, जहाँ दुर्योधन अपने माता- पिता से कहता है -

ज्वलनः शोकजन्मो मामयं दहति दुःसहः।
स्मानायां विपत्तौ मे वरं संशयितो रणः।।[11]

अर्थात् असह्य शोक से उत्पन्न यह अग्नि मुझे जला रही है। (युद्ध न करने तथा करने दोनों दशाओं में) समान विपत्ति होने के कारण मेरे लिये युद्ध करना ही उत्तम है। यह कारुणिक पद्य दुर्योधन के क्रोध और क्षोभ को दर्शाता है, दुर्योधन दुःशासनादि अपने भाइयों के मारे जाने पर अत्यन्त विह्वल है और उनकी मृत्यु का प्रतिकार भी लेना चाहता है। इसीलिये वह संशयात्मक स्थिति में युद्ध को ही चुनता है।

महाकवि क्षेमेन्द्र के औचित्य विभाजन में व्याकरण शास्त्र से संदर्भित औचित्य के प्रयोगों को देखें जैसे- क्रिया औचित्य, कारक औचित्य, लिंग औचित्य, वचन औचित्य, विशेषण औचित्य, उपसर्ग औचित्य, निपात औचित्य तथा काल

औचित्य के प्रयोग भी हृदयाह्लादक हैं। नाटक में व्याकरणों के प्रयोग बोझिल नही हैं क्रिया औचित्य का एक सुन्दर प्रयोग द्रष्टव्य है-

हते भीष्मे हते द्रोणे कर्णे च विनिपातिते।
आशा बलवती राजन्छल्यो जेष्यति पाण्डवान्।।[12]

सञ्जय धृतराष्ट्र से कहता है कि राजन्! भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण जैसे महारथियों के युद्ध में मारे जाने पर अब केवल यही आशा बढ़ रही है कि शल्य पाण्डवों पर विजय प्राप्त कर सकेगा। हन् तथा पत् धातुओं के प्रयोग से इस पद्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है। यद्यपि यहाँ हन् धातु का पुनरुक्त प्रयोग हुआ है फिर भी हते हते और विनिपतिते के प्रयोग से पद्य की सुन्दरता में अभिवृद्धि हुई है। कवि ने वचन का भी औचित्य पूर्ण प्रयोग किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है जहाँ पर बहुवचन के प्रयोग से ही पद्य औचित्यपूर्ण हो गया-

उपेक्षितानां मन्दानां धीरसत्त्वैरवज्ञया।
अत्रासितानां क्रोधान्धैर्भवत्येषा विकत्थना।।[13]

यहाँ पर धीरसत्वैः, क्रोधान्धैः, अत्रासितानां, उपेक्षितानां, मन्दानां आदि पदों के सहकार से ही यह पद्य चमत्कृत है। नाटककार भट्नारायण ने विशेषणों के भी औचित्यपूर्ण प्रयोग करके सहृदय पाठक के अन्तस्तल को छुआ है।

लेखक ने व्याकरण शास्त्र के प्रयोग में भी बहुत सावधानी दिखाई है, जिनके समुचित प्रयोग से पद्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है। यहाँ पर विशेषण औचित्य का उदाहरण द्रष्टव्य है। समुचित विशेषण के प्रयोग से भी काव्य सौन्दर्यावर्धक हो सकता है जिसका प्रयोग वेणीसंहार में इस प्रकार किया गया है-

शक्ष्यामि किं परिघपीवरबाहुदण्डौ, वित्तेनशशक्रपुरदर्शितवीर्यसारौ।
भीमार्जुनौ क्षितितले प्रविचेष्टमानौ, द्रष्टुं तयोश्च निधनेन रिपुं कृतार्थम्।।[14]

युधिष्ठिर आर्य जयन्धर से कहते हैं-

आर्य जयन्धर! लौह मुद्गर के समान स्थूल बाहुदण्ड वाले, कुबेर तथा इन्द्र की अलका पुरी एवं अमरावती नगरियों में अपना पौरुष दिखलाने वाले, भूतल पर छटपटाते हुये भीम तथा अर्जुन को देखने को तथा उन दोनों के निधन से सफल मनोरथ हुये शत्रु को देखने का क्या मुझ में सामर्थ्य हो सकेगा। यहाँ पर 'भीमार्जुनौ' के विशेषण परिघपीवरबाहुदण्डौ, वित्तेनशशक्रपुरदर्शित- वीर्यसारौ, प्रविचेष्टमानौ

आदि हैं। इन विशेषण पदों के प्रयोग से न केवल विशेष्य पद के सुन्दरता की अभिवृद्धि हुई है अपितु विशेष्य पद का शौर्यातिशय भी बोधित हो रहा है। लेखक ने वेणीसंहार नाटक में लोकाभिव्यंजक औचित्यों यथा-देश, कुल, व्रतादि का यथेष्ट औचित्यिक प्रयोग किया है। यहाँ पर कुल का औचित्यिक प्रयोग दर्शनीय है-

पापप्रियस्तव कथं गुणिनः सखायं, सूतान्वयः शशधरान्वयसम्भवस्य।
हन्ता किरीटिनमहं नृप! मुञ्च कुर्यां, क्रोधादकर्णमपृथात्मजमद्य लोकम्।।[15]

अश्वत्थामा दुर्योधन से कहता है कि हे राजन्! गुणों से सम्पन्न चन्द्रवंश में जन्मे हुये आप का यह पापप्रिय सूतवंश में जन्मा कर्ण मित्र कैसा, किरीटी (अर्जुन) का वध करने में समर्थ मैं हूँ (यह नही)। मुझे छोड़ दो आज क्रुद्ध होकर मैं इस संसार को कर्ण तथा अर्जुन से रहित कर दूँगा। अश्वत्थामा की इस उक्ति से दुर्योधन के श्रेष्ठ कुल, वंश तथा परंपरा का ज्ञान होता है। उसके कथन में राजा के कुलौचित्य के वैशिष्ट्य को दर्शाया गया है।

कुलौचित्य के अतिरिक्त नाटक में व्रतौचित्य के भी प्रयोग देखे जा सकते हैं। कवि ने व्रतों के प्रयोग में भी उचित अनुचित का विशेष ध्यान दिया है। यथा-

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्।।[16]

कर्ण अश्वत्थामा से कहता है कि सूत हूँ अथवा सूतपुत्र हूँ जो कुछ भी मैं हूँ। कुल में जन्म होना भाग्य के अधीन होता है, किन्तु पौरुष तो मुझ पर ही निर्भर है।

इस पद्य में कर्ण का धीर, वीर और दृढ़ व्रती होना दिखाई देता है। उसमें पौरुष साहस आदि गुणों का होना उच्च व्रती होने का प्रमाण है।

कवि भट्टनारायण ने वक्ता या कवि से सम्बन्धित औचित्यों यथा-तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम तथा आशीर्वाद आदि का भी अपने नाटक वेणीसंहार में औचित्यिक प्रयोग किया है। जिससे नाट्य शास्त्र रसिकों के हृदय पर अपना अमिट स्थान बनाये हुये है। नाटक से अभिप्राय औचित्य का एक सुन्दर प्रयोग द्रष्टव्य है-

यन्मोचितस्तव पिता वितथेत शस्त्रं,
यत्तादृशः परिभवः स तथाविधोऽभूत्।
एतद्विचिन्त्य बलमात्मनि पौरुषं च,
दुर्योधनोक्तमपहाय विधास्यतीति।।[17]

इस श्लोक में धृतराष्ट्र अश्वत्थामा से कह रहे हैं कि तुम्हारे पिता युधिष्ठिर के असत्य वचन कहने पर (कि अश्वत्थामा मारा गया) शस्त्र त्याग किया एवं उस प्रकार प्रख्यात तुम्हारे पिता का वैसा लोकप्रसिद्ध अपमान (मृत्यु) हुआ यह विचार कर तथा अपने बल-पौरुष को विचार कर दुर्योधन की बात भुलाकर जो उचित हो वही तुम्हें करना चाहिये। उपर्युक्त श्लोक में धृतराष्ट्र अश्वत्थामा को दुर्योधन की ओर से युद्ध के लिये प्रेरित कर रहे हैं। उनका अभिप्राय है कि दुर्योधन ने तुम्हारे लिये जिन कठोर शब्दों का प्रयोग किया है उसे भुला कर अपने पिता के अपमान का बदला युधिष्ठिर से लो। इस अभिप्राय को धृतराष्ट्र ने बडी सुन्दरता से रखा है। नाटक में अभिप्रायौचित्य के अतिरिक्त नाम औचित्य का भी बहुत मंजुल सन्निवेष किया गया है-

प्राप्तावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः।
स कर्णारिः स च क्रूरो वृककर्मा वृकोदरः।।[18]

सूत कहता है कि हे आयुष्मन्! एक ही रथ पर बैठे हुये इधर -उधर तुम्हें पूछते खोजते हुये कर्ण शत्रु अर्जुन तथा क्रूर कर्म करने वाला क्रूर वृकोदर (दोनो ही) आ रहे हैं। इस पद्य में भीम के नाम का औचित्य परिलक्षित होता है। 'वृककर्मा वृकोदरः' वृककर्मा अर्थात् 'भयंकर कर्म करने वाला' यह अर्थ वृकोदर नाम की सार्थकता है जो औचित्य पूर्ण है। नामौचित्य के कारण ही पद्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त लेखक ने आशीर्वाद का भी बडा मनोहारी औचित्यिक प्रयोग किया है। यथा-

अकृपणमतिः कामं जीव्याज्जनः पुरुषायुषम्,
भवतु च भवद्भक्तिर्द्वैधं विना पुरुषोत्तम!
दयितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्
सततसुकृती भूयाद् भूपः प्रसाधितमण्डलः।।[19]

कृष्णः- एवमस्तु।

नाटक के अन्त में युधिष्ठिर कल्याण की भावना से श्री कृष्ण से कहते हैं कि प्रभु यदि आप अधिक प्रसन्न हैं तो यह आशीर्वाद दीजिए कि उदार पुरुष यथेष्ट शतायु बनें, आपकी भक्ति संशय रहित होवे, राजा लोक-प्रिय, विद्वानों को बन्धुवत् मानने वाला, गुणों का विशेष पारखी (गुणग्राही), निरंतर पुण्यकर्म करने वाला तथा

व्यवस्थित मण्डल वाला बने। श्री कृष्ण कहते हैं कि ऐसा ही हो। यह पद्य युद्ध आदि के बाद का है जिसमें लोककल्याण की भावना है, जनसमूह की मंगलकामना है, लोगों में आत्मभाव की अभिव्यंजना है, विद्वानों और सहृदय पाठक तथा पुण्यशाली व्यक्तियों के लिए गुणों को पहचानने की कामना की गई है, अतः यह औचित्य पूर्ण है। क्योंकि ग्रन्थ की सार्थकता सहृदय जन संवेद्य ही होती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि महाकवि भट्टनारायण का नाटक वेणीसंहार औचित्य सम्प्रदाय की दृष्टि से सर्वोत्तम नाट्य रचना है। इसमें भाव, भाषा, काव्यशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, लोकशास्त्र तथा कवि या लेखक से सम्बद्ध जितने भी प्रयोग किये गये हैं वह सभी औचित्य की कसौटी में सिद्ध हैं और नाट्यधर्म के रूप में औचित्य माहात्म्य के वैभव को प्रकट करने वाला है।

संदर्भ -

1. *औचित्यविचारचर्चा -7*
2. *वही*
3. *वेणीसंहार 5/11*
4. *वही 5/18*
5. *अमरकोश 1/16-21*
6. *वेणीसंहार 1/21*
7. *दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।। काव्यप्रकाश सू. 8/91*
8. *वेणीसंहार 1/15*
9. *वही 4/3*
10. *वही 4/6*
11. *वही 5/20*
12. *वही 5/23*
13. *वही 3/43*
14. *वही 6/22*
15. *वही 3/44*
16. *वही 3/37*
17. *वही 5/42*
18. *वही 5/25*
19. *वही 6/46*

लेखक परिचय

प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी - अध्यक्ष संस्कृत-विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 470003

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी - 21, लैण्डमार्क सिटी, नियर बीएचईएल,
संगम सोसायटी, भोपाल, 462047

डॉ. चन्दनलाल गुप्ता - असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग,
पोस्ट ग्रेजुएट गवर्नमेंट कॉलेज फॉर गर्ल्स,
सेक्टर-11, चण्डीगढ़

डॉ. दीपक तिवारी - पूर्व शोधच्छात्र-संस्कृत-विभाग, सांची बौद्ध
भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय सांची,
रायसेन, मध्यप्रदेश।

डॉ. साधना मौर्या - सहायक आचार्य-संस्कृत विभाग, पं. दीनदयाल
उपाध्याय राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
सैदपुर, गाजीपुर, उ.प्र.

डॉ. आशा सिंह रावत - असिस्टेंट प्रोफेसर-संस्कृत
शासकीय के.आर.जी.पी.जी. आटोनोमस,
महाविद्यालय, ग्वालियर, म.प्र.

डॉ. गटुलाल पाटीदार - वरिष्ठ सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग,
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर, राजस्थान

डॉ. सञ्जय कुमार - सहायक-आचार्य, संस्कृत-विभाग,
डॉक्टर हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

डॉ. सत्येन्द्र कुमार यादव - सहायक आचार्य-वेद विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ.प्र.

डॉ. दिव्या - सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग, आर्य महिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी, उ.प्र.

डॉ. चन्द्रकिशोर शास्त्री - सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग, ब्रह्मावर्त पी.जी.कॉलेज, मन्धाना, कानपुर, उ.प्र.

प्रवीण कुमार - शोधच्छात्र-संस्कृत विभाग, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

डॉ. अवधेश कुमार यादव - हिन्दी-विभाग, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-470003, म.प्र.

डॉ. ऋचा मुक्ता - सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग ए.पी.सेन मेमोरियल गर्ल्स पी.जी. कॉलेज, चारबाग, लखनऊ उ.प्र.

डॉ. रामहेत गौतम - सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

डॉ. सिद्धनाथ खजुरिया - सहायह आचार्य, संस्कृत-विभाग, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, टीकमगढ़, म.प्र.

डॉ. ममता गुप्ता - सहायह आचार्य, संस्कृत-विभाग, शासकीय विवेकानंद महाविद्यालय, मैहर-सतना, म.प्र.

डॉ. आरती मीणा - सहायक आचार्य, साहित्य-विभाग, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर परिसर, राजस्थान

डॉ. किरण आर्या - सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

डॉ. दिव्या देशपाण्डे - सहायक प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग,
शासकीय दिग्विजय स्वशासी स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, राजनांदगांव (छ.ग.)

डॉ. नौनिहाल गौतम - सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर म.प्र.

डॉ. तरुण कुमार शर्मा - सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग,
अतर्रा पी.जी. कालेज, अतर्रा, बाँदा, उ.प्र.

डॉ. बाबूलाल मीणा - सह आचार्य, संस्कृत-विभाग,
एम.एस.जे. राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
भरतपुर, राजस्थान

डॉ. लक्ष्मीनारायण - अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
राजकीय महाविद्यालय पिहानी हरदोई, उ.प्र.

डॉ. चन्द्रपाल लोधी - शोध छात्र, संस्कृत-विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

डॉ.सचिन देव द्विवेदी - सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय,
अमरकंटक, म.प्र.

डॉ. शिवपूजन चौरसिया - पूर्व शोध छात्र, संस्कृत-विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

डॉ. राघवेन्द्र शर्मा - अध्यक्ष, साहित्य-विभाग,
शास. दू.श्री.वै. स्नातकोत्तर संस्कृत
महाविद्यालय, रायपुर, छत्तीसगढ़

डॉ. तारेश कुमार शर्मा - वरिष्ठ अध्यापक (संस्कृत)
शा. व.मा. बाल विद्यालय, लिबासपुर-दिल्ली

डॉ. शशिकुमार सिंह - सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग,
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, म.प्र.

डॉ. नीरज कुमार - पूर्व शोध-छात्र, संस्कृत-विभाग,
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, म.प्र.